ओ३म्

दयानन्दसन्देश

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट का मासिक पत्र

मई २०१६

Date of Printing = 05-05-16
प्रकाशन दिनांक= 05-05-16

वर्ष ४५ : अङ्क ७
दयानन्दाब्द : १९२
विक्रम-संवत् : बैशाख-ज्येष्ठ, २०७३
सृष्टि-संवत् : १,९६,०८,५३,११७

संस्थापक : स्व० ला० दीपचन्द आर्य
प्रकाशक व
सम्पादक : धर्मपाल आर्य
सह सम्पादक : ओम प्रकाश शास्त्री
व्यवस्थापक : विवेक गुप्ता

कार्यालय :

दयानन्दसन्देश (मासिक)

४२७, मन्दिर वाली गली, नया बांस,
खारी बावली, दिल्ली-६
दूरभाष : २३९८५५४५, ४३७८११९१
चलभाष : ९६५०५२२७७८
E-mail : aspt.india@gmail.com

एक प्रति ५.०० रु० वार्षिक शुल्क ५०) रुपये
आजीवन सदस्यता ५००) रुपये
विदेश में २०००) रुपये

इस अंक में

❑ महान सन्त - आचार्य बलदेव महाराज २
❑ वेदोपदेश ३
❑ शराब व सामाजिक..... ४
❑ शाकाहार पूर्णतया ६
❑ आरक्षण नहीं..... ८
❑ हाय! दिनकर जी..... ९
❑ ३३ करोड़ देवताओं..... १४
❑ सूर्य के सम्बन्ध.... १७
❑ सत्य धर्म रक्षक..... १९
❑ उभयपदी धातुओं... २१
❑ कहीं राजा भोज... २३
❑ श्रद्धाराम फिल्लौरी... २५

सत्यार्थप्रकाश

प्रचार संस्करण ३००० रुपये सैकड़ा
स्पेशल (सजिल्द) ५००० रुपये सैकड़ा में प्राप्त करें।

आरक्षण नहीं, वैदिक संरक्षण

(पं. नन्दलाल निर्भय, भजनोपदेशक, आर्य सदन बहीन जनपद पलवल, हरियाणा)

धधक रही है देश में, आरक्षण की आग।
अपने, अपनों पर रहे, यहाँ गोलियाँ दाग।।
यहाँ गोलियाँ दाग रहे, मानव अज्ञानी।
नेता तिकड़मबाज, कराते हैं शैतानी।।
भारत में दी बढ़ा, फूट की अब बीमारी
गए धर्म को भूल, स्वार्थी अत्याचारी।। १।।

नेताओं को लग गया, आरक्षण का रोग।
नर-नारी इस रोग का, भोग रहे हैं भोग।।
भोग रहे हैं भोग, दु:खी है जनता भारी।
दिन पर दिन बढ़ रही, भयंकर यह बीमारी।।
अगर रहा यह हाल, देश यह मिट जाएगा।
हमें सकल संसार, स्वार्थी बतलाएगा।। २।।

कुर्सी की खातिर रहे, नेता रोग बढ़ाय।
लालच में ये फँस गए, लालच बुरी बलाय।।
लालच बुरी बलाय, भूख वोटों की भारी।
इसीलिए तो पाप, रहे कर भ्रष्टाचारी।।
जन्म-जाति का रोग, बढ़ाते ही जाते हैं।
करते खोटे काम, तनिक ना शर्माते हैं।। ३।।

मदद गरीबों की करो, कहते चारों वेद।
धूर्त लोग समझें नहीं, यही हमें है खेद।।
यही हमें है खेद, धूर्त आदर पाते हैं।
बड़े-बड़े विद्वान्, यहाँ धक्के खाते हैं।।।
हे मित्रो! यदि मान, जगत में चाहो पाना।
वेदों का सिद्धान्त, तुम्हें होगा अपनाना।। ४।।

गुरुकुलों में सब पढ़ें, निर्धन अरु धनवान।
खान-पान-पहराव हो, सबका एक समान।।
सबका एक समान, व्यवस्था हो सरकारी।
पढ़-लिखकर सब बनें, तपस्वी-वेदाचारी।।
योग्यता अनुसार, काम सरकार उन्हें दे।
आरक्षण को मिटा, संरक्षण को अपना ले।। ५।।

देव दयानन्द की अगर, शिक्षा लें सब मान।
हो जाएगा विश्व का, याद रखो! कल्याण।।
याद रखो कल्याण, साथियो! यदि तुम चाहो।
स्वयं आर्य बनो, विश्व को आर्य बनाओ।।
वैदिक पथ पर चलो, मार्ग है यह सुखदाई।
"नन्दलाल" हो भला, आर्यो! करो भलाई।। ६।।

❑❑

ओ३म्

वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। महर्षि दयानन्द

परमेष्ठी प्रजापतिः ऋषिः। **सविता = ईश्वरः देवता।** भुरिगजगती। निषादः स्वरः।।

पुनः स कीदृश इत्युपदिश्यते।।

वह यज्ञ कैसा है, यह फिर उपदेश किया है।।

ओ३म् वसो पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्। देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा कामधुक्षः।।३।।

पदार्थः **(वसोः)** वसुर्यज्ञः **(पवित्रम्)** शुद्धिकारकं कर्म **(असि)** अस्ति। **अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः (शतधारम्)** शतं = बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति तम्। **शतमिति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३।१।। (वसोः)** वसुर्यज्ञः **(पवित्रम्)** शुद्धिनिमित्तम् **(असि)** अस्ति **(सहस्रधारम्)** बहुविधं ब्रह्माण्डं धरतीति तं यज्ञम्। **सहस्रमिति बहुनामसु पठितम्।। निघं० ।३।१।। (देवः)** स्वयंप्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः **(त्वा)** तं यज्ञम् **(सविता)** सर्वेषां वसूनामग्निपृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशतो देवानां प्रसविता। **सविता वै देवानां प्रसविता।। श० १।१।२।१७।। (पुनातु)** पवित्रीकरोतु **(वसोः)** पूर्वोक्तो यज्ञः **(पवित्रेण)** पवित्रनिमित्तेन वेद-विज्ञानकर्मणा **(शतधारेण)** बहुविद्याधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा **(सुप्वा)** सुष्ठुतया पुनाति पवित्रहेतुर्वा तेन **(काम्)** कां कां वाचं **(अधुक्षः)** दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः। **अत्र लडर्थे लुङ्।। अयं मंत्रः श० १।७।१।१४-१७ व्याख्यातः।।३।।**

प्रमाणार्थ **(शतम्)** 'शत' शब्द निघं० (३। १) में बहुनामों में पढ़ा गया है। **(सहस्रम्)** 'सहस्र' शब्द का निघं० (३ / १) में बहुनामों में पाठ किया गया है। **(सविता)** शत० (१ । १ । २ । १७) में 'सविता' का अर्थ 'देवों का उत्पन्न करने वाला' किया है। **(अधुक्षः)** यहाँ लट् अर्थ में लुङ् लकार है। इस मन्त्र की व्याख्या शत० (१ । ७ ।१ । १४-१७) में की है। १ । ३ ।।

सपदार्थान्वयः **यो वसोः = वसुर्यज्ञः शतधारं पवित्रमसि =शतधा शुद्धिकारकोऽस्ति** (शत-धारम्=बहुविधमसंख्यातं विश्वं धरतीति तं पवित्रम्=शुद्धिकारकं कर्म), **सहस्रधारं पवित्रमसि=सुखदोऽस्ति** (सहस्रधारम्=बहुविधं ब्रह्माण्डं धरतीति तं यज्ञं, पवित्रम्=शुद्धिनिमित्तम्), **त्वा=तं, तं** यज्ञं **सविता** सर्वेषां वसूनामगिनपृथिव्यादीनां त्रयस्त्रिंशतो देवानां प्रसविता **देवः** स्वयंप्रकाशस्वरूप परमेश्वरः **पुनातु** पवित्रीकरोतु।

हे जगदीश्वर! भवान् तेनास्माभिरनुष्ठितेन पवित्रे पवित्रनिमित्तेन वेदविज्ञानकर्मणा **शतधारेण** बहुविद्याधारकेण परमेश्वरेण वेदेन वा **सुप्वा=यज्ञेन** सुष्ठुतया पुनाति पवित्रहेतुर्वा तेन **अस्मान् पुनातु** पवित्रीकरोतु।

हे विद्वन्, जिज्ञासो वा! त्वं कां कां कां (वाचं) **वाचमधुक्षः=प्रपूरयसि, वा प्रपूरयितुमिच्छसि** दोग्धुमिच्छसीति प्रश्नः।।१।३।।

भाषार्थ : जो **(वसोः)** यज्ञ **(शतधारम्)** शतधा **(पवित्रम्)** शुद्धिकारक **(असि)** है अर्थात् बहुविध असंख्य विश्वों को धारण करने वाला, शुद्धिकारक कर्म है, **(सहस्रधारम्)** बहुविध ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला, **(पवित्रम्)** सुखदायक एवं शुद्धि का निमित्त **(असि)** है, **(त्वा)** उस यज्ञ को **(सविता)** सब वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी आदि तैंतीस देवों का उत्पादक **(देवः)** स्वयं प्रकाशस्वरूप परमेश्वर **(पुनातु)** पवित्र करे।

हे जगदीश्वर! आप हम लोगों से सेवित **(पवित्रेण)** पवित्रताकारक वेद-विज्ञान-कर्म से **(शतधारेण)** बहुत विद्याओं के धारक परमेश्वर वा वेद से **(सुप्वा)** अच्छी प्रकार पवित्र करने वाले वा पवित्रता के हेतु यज्ञ से हमें **(पुनातु)** पवित्र कीजिये।

हे विद्वान् अथवा जिज्ञासु मनुष्य! तू **(काम्)** कौन-कौन सी वाणी को **(अधुक्षः)** दुहना चाहता है? ।।१।३।।

भावार्थः ये मनुष्याः पूर्वोक्तं यज्ञमनुष्ठाय पवित्रा भवन्ति, तान् जगदीश्वरो बहुविधेन विज्ञानेन सह वर्त्तमानान् कृत्वैतेभ्यो बहुविधं सुखं ददाति। परन्तु-ये क्रियावन्तः परोपकारिणः सन्ति ते सुखमाप्नुवन्ति, नेतरेऽलसाः।

भावार्थः जो मनुष्य पूर्वोक्त यज्ञ का अनुष्ठान करके पवित्र होते हैं, उनको परमेश्वर बहुत प्रकार के विज्ञान से युक्त करके उन्हें अनेक प्रकार का सुख प्रदान करता है। परन्तु- जो कर्मशील परोपकारी हैं, वही सुख को प्राप्त करते हैं; दूसरे आलसी लोग नहीं।

शराब व सामाजिक विडम्बना

(धर्मपाल आर्य)

आज हमारा समाज (देश) जिन चुनौतियों से जूझ रहा है, उन चुनौतियों में नशा एक बहुत बड़ी चुनौती है। नशा चाहे धूम्रपान का हो, नशा चाहे चरस अथवा भाँग का हो, नशा चाहे अफीम का हो, नशा चाहे स्मैक का हो और नशा चाहे शराब का हो हर नशा व्यक्ति के, परिवार के, समाज के, संगठन के और राष्ट्र के सम्पूर्ण विनाश की कहानी लिखता है। बड़े-बड़े घराने, बड़ी-बड़ी जातियाँ नशे के अभिशाप से सदा-सदा के लिए धरती से मिट गयीं। हर नशा अपने-अपने ढंग से शिकार का नाश करता है लेकिन शराब का नशा घुन की तरह जाति, समाज, व्यक्ति, परिवार तथा राष्ट्र का नाश करता है। शराब का नशा व्यक्ति को, समाज को और राष्ट्र को नैतिकता से, धर्म से, भक्ति से, मानवता से और सत्य से दूर कर देता है। शराब का नशा जाति, समाज को व राष्ट्र को अन्याय के, अधर्म के, असत्य के, क्रूरता के और पाप के रास्ते पर चलाता है। महात्मा बुद्ध ने अपने भक्तों को उपदेश देते हुए कहा था-

"तुम शराब से हमेशा डरना और दूर रहना क्योंकि यह पाप और अनाचार की जननी है।'' भक्ष्याभक्ष्य की विवेचना करते हुए महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थ प्रकाश के दशम समुल्लास में लिखते हैं-

"अनेक प्रकार मद्य (शराब), गाँजा, भांग, अफीम आदि जो-जो बुद्धि का नाश करने वाले पदार्थ हैं, उनका सेवन कभी न करें और जितने अन्न सड़े, बिगड़े दुर्गन्धादि से दूषित, अच्छे प्रकार न बने हुए और मद्य, माँसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्य, माँस के परमाणुओं ही से पूरित हैं, उनके हाथ का ना खावें।" जब यह युवाओं की जीवन शैली का हिस्सा बन जाए, तब तो राष्ट्र के विनाश को चमत्कार भी नहीं रोक सकता। युवा राष्ट्र की, समाज की और परिवार की आत्मा है। यदि युवा वर्ग सुरापान का शिकार होता है, तो समझना चाहिए कि राष्ट्र की एकता, अस्मिता गहरे संकट में है। अतः मैं कह सकता हूँ कि सुरापान हमारे पारिवारिक जीवन पर, हमारे व्यक्तिगत जीवन पर, हमारे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन पर कलंक का टीका है। आचार्य याज्ञवल्क्य ने शराब की निन्दा करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि "**अनृतं पाप्मा तमः सुरा**" अर्थात् सुरा (मदिरा) झूठ को और पाप को जन्म देने वाली है। आज शराब पीना और पिलाना फैशन में शामिल हो गया है। समाज में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस सामाजिक बुराई का समर्थन तो करते ही हैं, इसके साथ-साथ येन-केन- प्रकारेण इसको प्रोत्साहित भी करते हैं। ऐसे लोगों के व्यवहार का परिणाम यह होता है कि उपरोक्त बुराई के खिलाफ शुरू किया गया आन्दोलन अथवा संघर्ष कमजोर पड़ जाता है। इस (मदिरापान) की बुराई का सबसे अधिक घातक परिणाम परिवार में बच्चों और महिलाओं को भुगतना पड़ता है। **अतः मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि शराब पीना और पिलाना हम सबके लिए किसी त्रासदी से कम नहीं है।** उपरोक्त सामाजिक बुराई के विरुद्ध संघर्ष भी समय-समय पर आर्यसमाज करता रहा है, लोगों को जागरुक भी किया और असंख्य युवाओं को इस बुराई से मुक्ति भी दिलाई तथा आज भी प्रयासरत है। लेकिन जब तक इसमें सबकी भागीदारी नहीं होगी, तब तक इस बुराई को जड़ से खत्म करना असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। इस बुराई ने असंख्य युवाओं को, असंख्य परिवारों को, असंख्य राजघरानों को समूल नष्ट कर दिया। मदिरापान मृत्युपाश है जो कि धनी के धन को, बली के बल को, रूपवान् के रूप को, ज्ञानवान् के ज्ञान को, चरित्रवान् के चरित्र को, संयमी के संयम को, सज्जन की सज्जनता को, शीलवान् के शील को और पुण्यात्मा के पुण्य को हर लेता है। यही कारण है

कि चाहे पुराण हो, चाहे कुरान हो, चाहे रामायण हो, चाहे महाभारत हो, चाहे बाइबिल हो, चाहे गुरुग्रन्थ साहिब हो, चाहे वेद हों इन सभी ने एक स्वर में सुरा और सुरापान की निन्दा की है। बाल्मीकि रामायण में आता है-

"न हि धर्मार्थ सिद्धि अर्थं पानमेवं प्रशस्यते।
पानादर्थश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते।।"

अर्थात् धर्म और अर्थ की सिद्धि (प्राप्ति) के लिए सुरापान बिल्कुल उचित नहीं, क्योंकि इसके सेवन से धर्म, अर्थ और काम का नाश हो जाता है, मोक्ष की बात तो बहुत ही दूर है। इसी प्रकार शार्ङ्ग नामक ग्रन्थ में शराब को हर प्रकार से हानिकारक माना गया है। उसमें कहा गया है -

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं, मदकारि तदुच्यते।
तमोगुण प्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम्।।

अर्थात् जो पदार्थ बुद्धि का नाश करता है, वह नशीला पदार्थ (शराब) कहलाता है। यह सुरा तमोगुण को बढ़ाने वाली होती है, इसका सेवन किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। इस प्रकार हमारे धर्मग्रन्थ (वेद) क्या ऐतिहासिक ग्रन्थ क्या, सब के सब हमें सुरापान से होने वाली सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, चारित्रिक, वैयक्तिक हानियों से अवगत करा रहे हैं। हमारे ऋषियों, महर्षियों, योगियों, महापुरुषों, कवियों, लेखकों और साहित्यकारों द्वारा चेताने के बाद भी हम उनकी शिक्षाओं और सन्देशों को नजरन्दाज करके सुरापान की दलदल में दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक फँसते और धँसते चले जा रहे हैं। शराब की निन्दा करते हुए किसी कवि ने बड़ा सुन्दर लिखा है -

जो डूबे हैं गिलासों में, न उभरे जिन्दगानी में।
मरे हैं डूबकर लाखों, बन्द बोतल के पानी में।।
न कर बर्बाद अपनी जिन्दगी, ऐ! बोतल के दीवाने।
वो काटेगा बुढ़ापे में, जो बोयेगा जवानी में।।

मराठों को अपनी अंगुली पर किसने नचाया? शराब ने। मुगल साम्राज्य की जड़ों को किसने हिलाया? शराब ने। राजपूतों का नाश किसने किया? शराब ने। यादवों का नाश किसने किया? शराब ने। जो एक बार इसके जाल में फँस गया उसका विनाश सुनिश्चित। राष्ट्रहित, समाजहित का ध्यान में रखते हुए हमारी भारत सरकार अथवा देश की समस्त राज्य सरकारों को एक साथ मिलकर एक ऐसी नीति तैयार करनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत शराब पीना, पिलाना, शराब बेचना-खरीदना और शराब का उत्पादन घोर अपराध की कोटि में माने जाएं। अभी पिछले महीने की खबर थी कि बिहार में नीतीश सरकार ने शराब पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया। **मैं दिल्ली के आर्य प्रतिनिधियों की ओर से बिहार सरकार के शराबबन्दी के इस साहसिक कदम की प्रशंसा करता हूँ और सफलता की हार्दिक शुभकामनाएँ देता हूँ।** इसके साथ ही मैं केन्द्र तथा देश के सभी राज्यों की सरकारों से अनुरोध करता हूँ कि वे भी क्षणिक राजनीतिक लाभों की परवाह किये बिना शराब पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाने का साहसिक कदम उठाकर देश के प्रति अपनी सच्ची निष्ठा का परिचय दें। वेदों के अनुसार महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का आर्यराष्ट्र का सपना तथा रामायण के अनुसार महात्मा गान्धी का रामराज्य का सपना तभी साकार होगा, जब देश तथा प्रदेश की सरकारें देश और प्रदेश के हित में साहसिक निर्णय लेकर आने वाली पीढ़ी के लिए आदर्श स्थापित करेंगी। **मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि मेरे देश की और प्रदेश की सरकारों को इतना आत्मिक मिले, जिससे मेरा देश और मेरे देश के मेरे सभी प्रदेश, मेरे प्रदेशों के मेरे सभी जनपद और सभी जनपदों के मेरे सभी ग्राम और मेरे सभी ग्रामों के सभी घर और मेरे सभी घरों के सभी सदस्य सुरा रूपी नागिन से हमेशा-हमेशा के लिए मुक्त हो जाएं।** यदि इस प्रकार साहसिक निर्णय लिए जाएं, तो देश को महान् बनाने की दिशा में साहसिक फैसले ऐतिहासिक माने जायेंगे, जिससे हमारे शासक न केवल यश के भागी बनेंगे, अपितु पुण्य के भी भागी होंगे। अन्त में किसी कवि की इन पङ्क्तियों द्वारा मैं युवाओं से कहना चाहता हूँ -

"इतिहास सामने है गवाह, सुरा-संग अति है खराब।
तन-मन-धन से हो गये तबाह घर बड़े-बड़े पीकर शराब।।
आओ, हम सब इस कुरीति से संगठित होकर लड़ें।

❑❑

उभयपदी धातुओं की विशिष्टता

(उत्तरा नेरूर्कर,बंगलौर - ९९४५०५८३९०)

बहुत समय बाद, मैं पुनः व्याकरण विषय पर यह लेख लिख रही हूँ, जिसकी प्रतीक्षा कुछ व्याकरण-प्रेमियों को थी। यहाँ मैंने उभयपदी धातुओं के परस्मैपद और आत्मनेपद प्रयोगों की विशिष्टता पर ध्यान आकृष्ट किया है। आज हम इन दोनों प्रयोगों में भेद नहीं करते हैं और कहीं भी किसी का भी प्रयोग कर लेते हैं। परन्तु प्राचीनभारत में, जब मानव-बुद्धि की धारणा-शक्ति हमसे कहीं अधिक थी, तब संस्कृत व्याकरण के प्रत्येक रूप का बड़ी सावधानी से प्रयोग होता था। इस लेख में इनसे जनित अर्थ-भेदों को उजागर कर रही हूँ।

उभयपद प्रयोग के विषय में अष्टाध्यायी का सूत्र है-

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।।
अ. १/३/७२।। अनुवृत्तिः- आत्मनेपदम्।।

अर्थात् जिन धातुओं को पाणिनि ऋषि ने स्वरित-स्वर-युक्त या ञित् बनाया है, वे क्रिया के फल के विषय में, कर्ता के अभिप्राय वाली होने पर, आत्मनेपदी होती हैं। जब क्रियाफल किसी और के लिए अपेक्षित होता है, तो **"शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्।। १/३/७८।।"** से परस्मैपद ही हो जाता है। सो, कोई यज्ञ अपने लिए करता है, तो कहा जायेगा, "सः यजते।" परन्तु जब किसी अन्य यजमान के लिए यज्ञ करेगा, तो कहेंगे, "सः यजति।" इस प्रकार इस प्रकरण में आने वाली धातुएँ उभयपद होती हैं।

आजकल की संस्कृत में यह अर्थ-भेद नहीं पाया जाता और अधिकतर छन्द के अनुसार एक या दूसरे शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। परन्तु पुराने ग्रन्थों में इस प्रकार का प्रयोग स्पष्टतः देखने में आता है और वह अर्थ में चार चाँद लगा देता है। इसके कुछ सुन्दर द्रष्टान्त मैंने केनोपनिषद् में पाए। केन के अन्तिम दो खण्डों में एक आख्यायिका वर्णित है, जिसमें ब्रह्म अपने को देवों से अधिक शक्तिशाली स्थापित करते हैं। वहाँ एक वाक्य आता है-

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।। केन० ३/२।।

इसकी पृष्ठभूमि में, ब्रह्म ने जब देवताओं के लिए विजय प्राप्त की, परन्तु जब देवता उसको अपनी जीत मानकर गर्वान्वित होने लगे, तदनन्तर यह वाक्य आता है, जिसका तात्पर्य है कि वह ब्रह्म देवों के इस गर्व को जान गए और उनके सामने यक्ष-रूप में प्रकट हुए। वे देवता नहीं समझ सके कि यह यक्ष कौन है।

इस वाक्य में विज्ञा धातु के दो रूप आते हैं- विजज्ञौ ओर व्यजानत। पहला परस्मैपद लिट् १/१ है, दूसरा आत्मनेपद लङ् १/३ है। पहला प्रयोग है- उस ब्रह्म ने उन देवों का विचार जान लिया। सो, परस्मैपद् लिट् १/१ है, दूसरा आत्मनेपद लङ् १/३ है। पहला प्रयोग है- उस ब्रह्म ने उन देवों का विचार जान लिया। सो, परस्मैपद के कारण अर्थ बना- ब्रह्म ने देवों के लिए उनका विचार जान लिया। यह तो बड़ा ही अटपटा है! भला, कोई भी किसी और के लिए क्योंकर कुछ भी जानेगा?! यह परस्मैपद का प्रयोग हमें विचार करने के लिए बाध्य करता है। तब समझ में आता है कि ब्रह्म अपने लिए तो कुछ करता ही नहीं है! जो उसने देवों के गर्व को समझा, तो उनको ही समझाने के लिए समझा, जिससे वे अपने से बड़ी उस शक्ति को जान पाएँ, समझ पाएँ। ब्रह्म को तो किसी की प्रशंसा की अपेक्षा है ही नहीं। इस प्रकार हमें अर्थ की गहनता ज्ञात हुई।

दूसरा प्रयोग है 'व्यजानत'- वे देव नहीं जान पाए कि यह यक्ष कौन है। यहाँ देवों ने अपने लिए समझा कि हम इस यक्ष को नहीं पहचान पा रहे हैं। इस ज्ञान से ब्रह्म को कोई अपेक्षा नहीं थी।

अगले वाक्य में इसी धातु का पुनः प्रयोग होता है-

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति।। केन० ३/३।।

उन देवों ने अग्नि को अपने बीच चुना और उससे कहा, "हे जातवेद! तुम पता करो कि यह यक्ष कौन है।"

यहाँ 'विजानीहि' परस्मैपद लोट् २/१ में है। इससे ज्ञात होता है कि देवों ने अग्नि-देव से स्वयं के लिए पता लगाने के लिए नहीं, अपितु उन सबके लिए पता लगाने के लिए कहा। उभयपदों की इस प्रयोग-विशेषता को जाने बिना यह बात नहीं जानी जा सकती।

आगे हमें कुछ और रोचक उदाहरण मिलते हैं-

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति....।। केन० ३/६।।

यक्ष-रूपी ब्रह्म ने अग्नि के लिए एक तृण रख दिया और कहा कि इसको जला।

यहाँ 'निधा' धातु उभयपदी है। उसका 'निदधौ' रूप परस्मैपद लिट् १/१ है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म ने तृण अग्नि के लिए रखा, अपने लिए नहीं। वैसे यह तो यहाँ स्पष्ट ही है, तथापि इसके महत्त्व को समझने के लिए हम एक दूसरा प्रकरण सोच सकते हैं, जहाँ वह प्रकरण देवों के बीच होता और अग्निदेव वायुदेव के लिए तृण रखते, तो वह अपनी अधिक शक्ति को प्रमाणित करने के लिए ऐसा करते, न कि वायु को कुछ देने के लिए। तब वहाँ हमें 'निदधे' रूप का प्रयोग करना उचित होता। इस प्रकार यहाँ भी हम समझ सकते हैं कि अपनी शक्ति की उत्तमता बताने में ब्रह्म का प्रयोजन अन्यों के लिए ही है, अपने लिए नहीं।

आगे भी-

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति...।।

केन0 ३/१०।।

जब वायु यक्ष के पास पहुँचता है, तो यक्ष उसके लिए भी एक तृण रखता है और कहता है, "इसको उठा ले।"

यहाँ आने वाली 'आदा' धातु उभयपदी है। उसके लोट् २/१ का परस्मैपदी रूप 'आदत्स्व' से ज्ञात होता है कि वास्तव में यक्ष कह रहा है, "इस तिनके को अपने लिए उठा- अपनी शक्ति को आजमाने के लिए उठा। मैं तो पहले से ही सब जाने बैठा हुआ हूँ।"

आगे एक विस्मयात्मक प्रयोग आता है-

.... तस्मात् तिरोदधे।। केन० ३/११।।

सब देवों के अन्त में इन्द्र जब यक्ष के निकट पहुँचे, तो यक्ष उनसे छिप गया।

यहाँ आने वाली 'तिरोधा' धातु उभयपदी है। उसके आत्मनेपद लिट् १/१ का प्रयोग किया गया है, जिससे अर्थ बना- यक्ष अपने लिए छिप गया। भला ब्रह्म जीवात्मा से अपने लिए क्यों छिपेगा? छिपेगा तो जीवात्मा के लिए छिपेगा, अपने लिए क्यों? जिस ब्रह्म को किसी से कुछ अपेक्षा नहीं है, वह अपने लिए क्यों छिप गया? इस पर विचार करने से उपनिषत्कार एक बहुत ही गूढ़ सन्देश दे रहे हैं, ऐसा ज्ञात होता है। वे कह रहे हैं कि परमात्मा चाहता है कि जीवात्मा बहुत तप करके उनको पाए। जबकि अन्त में यह योग जीवात्मा के लिए ही कल्याणकारी सिद्ध होता है, परन्तु परमात्मा अपने लिए अपने भक्त की परीक्षा लेते हैं कि मेरे लिए इसका प्रेम कितना गहरा है। इसे उपनिषत्कार की कल्पना भी माना जा सकता है क्योंकि वैसे तो परमात्मा से भक्त की भक्ति छुपी नहीं है, तथापि इससे सम्भवतः वे इस बात पर ध्यान आकर्षित करना चाह रहे हैं कि, प्रकट संसार के समान, परमात्मा अपने को भी प्रकट कर सकते थे। परन्तु उनको यह करना इष्ट नहीं था, उन्हें अपने भक्त का उन्हें ढूंढना इष्ट था।

उपरोक्त से अनायास ही प्रश्न उठता है कि क्या फिर परस्मैपदी धातुएँ सर्वदा औरों के लिए होने वाली क्रियाओं के लिए होती हैं और आत्मनेपदी धातुएँ सर्वदा अपने लिए होने वाली क्रियाओं के लिए? सो, ऐसा सम्बन्ध मैंने तो नहीं पाया, जैसे 'भवति' और 'वर्तते' पर्यायवाची हैं, परन्तु एक परस्मैपदी और दूसरी आत्मनेपदी है। तथापि यदि विद्वानों का इस विषय में कोई भिन्न मत है, तो अवश्य अवगत कराएँ।

संस्कृत की प्रत्येक विशेषता के समान, उभयपदी पदों का प्रयोग अपने अन्दर बहुत अर्थ संजोए होता है। उस विशेष अर्थ को समझने से हमें प्राचीन वक्ताओं के निहित अर्थ ज्ञात होते हैं। इससे हमारे ज्ञान में संवर्धन होता है। इसलिए इन पदों के परस्मैपदी और आत्मनेपदी प्रयोगों के ऊपर हमें विशेष ध्यान देना चाहिए, इनके ऊपरी अर्थ को ही समझकर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए।

महान सन्त- आचार्य बलदेव महाराज

(पं. नन्दलाल निर्भय, भजनोपदेशक, आर्य सदन बहीन जनपद पलवल (हरियाणा)

आचार्य बलदेव जी, सार्वदेशिक प्रधान।
ईश भक्त, धर्मात्मा, थे सच्चे इंसान।।
थे सच्चे इंसान, वेद मर्यादा पालक।
स्वामी ओमानन्द, गुरु थे उनके लायक।।
देश भक्त, गुणवान, धर्म के थे अनुरागी।
परोपकारी सन्त, सत्यवादी थे त्यागी।। १।।

खोला गुरुकुल कालवा, किया धर्म का काम।
देवपुरुष ने कर दिया, सकल विश्व में नाम।।
सकल विश्व में नाम, हजारों बाल पढ़ाए।
देश भक्त विद्वान्, सैकड़ों शिष्य बनाए।।
राजसिंह अरु धर्मवीर को, ज्ञान सिखाया।
रामदेव को सकल विश्व में चमकाया।। २।।

दर्शनाचार्य थे बड़े, थे गो- भक्त महान।
आर्यजगत में सब जगह, उनका था सम्मान।।
उनका था सम्मान, कर्म अच्छे करते थे।
मानवता के पुंज, पराया दु:ख हरते थे।।
हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में, काम किया था।
तारा सिंह, प्रताप सिंह को, हरा दिया था।। ३।।

आचार्य प्रवर गए, छोड़ सकल संसार।
मौत अचम्भा है बड़ा, मित्रो! करो विचार।।
मित्रो! करो विचार, जगत में जो जन आता।
राजा हो या रंक, काल सबको खा जाता।।
राम, कृष्ण, चाणक्य, न यम से बचने पाए।
अर्जुन, पृथ्वीराज, काल ने ग्रास बनाए।। ४।।

सुनो आर्यो! ध्यान से, एक काम की बात।
आपस में तुम मत करो, मित्रो! घूंसे-लात।।
मित्रो! घूंसे-लात, करोगे, पछताओगे।
कहता हूँ मैं साफ, एक दिन मिट जाओगे।।
जगत गुरु ऋषि दयानन्द की, शिक्षा मानो।
अहंकार दो त्याग, धर्म आप अब जानो।।५।।

❑❑

हाय! दिनकर जी क्या लिख गये! (३)

(राजेशार्य आट्टा, मो0:-०९९९१२९१३१८)

प्रिय पाठकवृन्द! ऋषि दयानन्द के सुधारवादी विचारों का प्रभाव उनके समकालीन व एक शताब्दी के बाद के भी हिन्दी कवियों व लेखकों की रचनाओं में साफ नजर आता है। उनमें से बहुतों ने तो ऋषि के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। पर कुछ ऐसे चालाक थे कि गुड़ खाकर भी गन्ने को कोस गये। खेद है, कवि रामधारी सिंह दिनकर भी उनमें शामिल हो गये। प्रस्तुत लेख में हम उनके द्वारा महर्षि दयानन्द के कार्यों पर किये सीधे आक्षेपों की समीक्षा करेंगे। वैसे इस विषय पर पूज्यपाद श्री भवानीलाल भारतीय व स्वामी विवेकानन्द जी (मेरठ) पहले लिख चुके हैं। यह उन्हीं के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयास है।

आर्यसमाज के प्रकरण में ऋषि दयानन्द की प्रशंसा करते हुए दिनकर जी लिखते हैं- **"छह शास्त्रों और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया।"** (पृ० ४७६)

आर्य समाज की सामान्य सी जानकारी रखने वाले पाठक जानते हैं कि ऋषि दयानन्द ने ऋषि-महर्षियों, राजा-महाराजाओं को अपमानित करने वाली अश्लील, असम्भव, प्रकृति-विरुद्ध व मिथ्या कथाओं के कारण पुराणों को प्रमाण-कोटि से बाहर किया था, पर छह शास्त्रों (सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक व वेदान्त) को पदे-पदे प्रमाण माना है व इनके रचयिता ऋषियों को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। जिसे अधिक पढ़ने में आलस्य हो, तो सत्यार्थप्रकाश का तृतीय समुल्लास ही पढ़कर देख ले।

एक बार फिर दिनकर जी अन्धेरे में जा डूबे और लिख दिया- "यह विस्मय की बात है कि स्वामी जी ने संहिताओं को तो प्रमाण माना, किन्तु उपनिषदों पर वही श्रद्धा नहीं दिखायी।.... इसी प्रकार युग-युग से पूजित गीता को उन्होंने कोई महत्त्व नहीं दिया और कृष्ण, राम आदि को तो परम पुरुष माना ही नहीं।" (पृ० ४७८)

दिनकर जी जैसा महाकवि इतनी सामान्य सी बात पर विस्मय कर बैठा। और जब अपने आप लिखता है कि वैदिक साहित्य में, वेदांगों के बाद उपनिषदों का स्थान आता है।.... उपनिषदों की रचना बहुत बाद तक होती रही।.... अल्लोपनिषद् की रचना अकबर के समय में हुई थी।" (पृ० ८८) तो क्या उपनिषद् वेद वाली श्रद्धा के पात्र हैं? क्या अल्लोपनिषद् जैसे उपनिषद् पर भी वेद की तरह श्रद्धा रखनी चाहिए? पर वेद की कसौटी पर खरे उतरने वाले उपनिषदों पर ऋषि दयानन्द की श्रद्धा देखनी थी, तो दिनकर जी सत्यार्थप्रकाश का तृतीय समल्लास ही पढ़ लेते।

यज्ञ, योग, दान, तप आदि की बहुत सी अच्छी बातें गीता में हैं और वे उपनिषदों से ली गई हैं तथा उपनिषद वेदों पर आधारित हैं अर्थात् गीता का मूल उपनिषद् है और उपनिषदों का मूल है वेद। **जिस व्यक्ति ने सबके मूल को ही जान लिया है, फिर वह शाखाओं और पत्तों को क्यों सींचेगा? वेद के सामने गीता की यही तो अवस्था है।** फिर भी ऋषि दयानन्द ने यथास्थान गीता के प्रमाण दिये हैं और गीता को त्याज्य ग्रन्थों में भी नहीं रखा। ऋषि दयानन्द गीता तो क्या उनके ग्रन्थों में सर्वाधिक स्थान पाने वाली मनुस्मृति को भी वेद की कसौटी पर कसकर ही उसके प्रक्षिप्त श्लोकों को त्याज्य कोटि में रखते हैं। ऋषि गीता का आदर करते थे, अतः उनके शिष्यों ने गीता पर भाष्य लिखकर अपनी श्रद्धा प्रकट की है। पर गीता युग-युग से पूजित कैसे हो गई? भारतीय परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध द्वापर युग की समाप्ति पर हुआ

और उसके बाद कलियुग के लगभग ५१०० वर्ष बीते हैं। वैसे भी उपनिषदों का सार होने से गीता बहुत प्राचीन ग्रन्थ नहीं लगता, क्योंकि दिनकर जी तो महर्षि वेद व्यास कृत संहिताओं का निर्माण ही ई.पू. १४०० मानते हैं अर्थात् आज से ३४०० वर्ष पूर्व। यदि गीता को महर्षि वेद व्यास की रचना भी मानें, तो उसमें बाद में पण्डितों द्वारा की गई वृद्धि से मना नहीं किया जा सकता, क्योंकि गीता महाभारत का अंग है। अब महाभारत में लगभग एक लाख श्लोक हैं, जबकि जय संहिता (मूल महाभारत) में ८८०० श्लोक बताए जाते हैं, तब गीता की क्या अवस्था रही होगी, आप स्वयं सोच लें। फिर भी प्रबुद्ध पाठक कुछ बिन्दुओं पर विचार करें-

१. अर्जुन मोहग्रस्त कैसे हुआ- जब विराट युद्ध में भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि से लड़ चुका था और उद्योग पर्व में घायल नाग की भाँति क्रोध से फुंफकारते हुए संजय के माध्यम से दुर्योधन कर्ण आदि को कौरवों के सम्पूर्ण विनाश का जो उत्तर उसने दिया था, वह उसे नहीं भूल सकता था; न द्रौपदी को दिया वचन भूल सकता था और न माता कुन्ती द्वारा श्रीकृष्ण के माध्यम से भेजे (अन्याय का प्रतिकार) सन्देश को। अर्जुन ने तो युद्ध से पहले दिन युद्ध से घबराए युधिष्ठिर को भी आश्वासन व धैर्य दिया था। (उद्योग पर्व १५४-२४,२५)

२. युद्ध के मैदान में क्या योग, यज्ञ का उपदेश सम्भव था,

३. महाभारत अश्वमेध पर्व १६-५,७ में अर्जुन ने पुनः उपदेश सुनने की इच्छा की, तो श्रीकृष्ण भी उसे भूल चुके थे। फिर उसे लिखा किसने? इससे महाभारत में मिलावट तो सिद्ध हो रही है।

४. महाभारत में श्रीकृष्ण ध्यान, यज्ञ करते हैं, जबकि गीता में स्वयं को परमात्मा कहते हैं। फिर गीता (भीष्म पर्व २५ से ४२ वें अध्याय) से पूर्व (२३वें अध्याय में) उन्होंने अर्जुन को दुर्गा- स्तुति करने के लिए क्यों कहा?

५. गीता की समाप्ति के बाद ४३वें अध्याय में पहले ५ श्लोक गीता माहात्म्य से सम्बन्धित हैं। गीताप्रेस की महाभारत में इस पर टिप्पणी लिखी है कि उपर्युक्त पाँच श्लोक कितनी ही प्रतियों में नहीं हैं और कितनी ही प्रतियों में हैं। अतः ये प्रक्षिप्त हैं और अगले ही श्लोकों में वीरों द्वारा सिंहनाद करने, शंख बजाने, भेरी आदि बजाए जाने का उल्लेख है, जो कि निश्चित रूप से २४वें अध्याय में धृतराष्ट्र द्वारा संजय से पूछे गये प्रश्न के उत्तर से जुड़ा हुआ है अर्थात् २५ से ४२वें अध्याय तक सम्पूर्ण गीता बाद में जोड़ी गई है। इन अध्यायों की समाप्ति (अन्त) में यह अन्तर साफ देखा जा सकता है। यथा- २४वें अध्याय के अन्त में लिखा है-

इति महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्‌भगवद् गीतापर्वणि धृतराष्ट्र संजय संवादे चतुर्विंशोऽध्यायः।

व ४३वें अध्याय की समाप्ति पर लिखा है-

इति महाभारते भीष्मपर्वणि भीष्मवधपर्वणि भीष्मादिसम्मानने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः।

जबकि बीच (गीता) के अध्यायों के अन्त में लिखा है-

इति श्री महाभारते भीष्मपर्वणि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता पर्वणि श्रीमद्‌भगवद्‌गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे... नाम... ऽध्यायः।

६. भीष्मपर्व के १३वें अध्याय में युद्धभूमि से लौटकर संजय ने हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र को सबसे पहले भीष्म के गिरने (दसवें दिन) का समाचार सुनाया, जिसे सुनकर धृतराष्ट्र ने विलाप करते हुए पूछा कि अजेय योद्धा भीष्म जी कैसे मारे गये। मुझे वहाँ का सारा वृत्तान्त कहो (भीष्म १४/७७,७६,८०)। यह सुनकर संजय ने २२वें अध्याय तक दोनों सेनाओं के कोलाहल व व्यूह रचना का वर्णन किया। फिर २५वें अध्याय (गीता के प्रथम अध्याय) में यह बताने की क्या आवश्यकता थी?

यह तो रहा गीता का ऐतिहासिक पक्ष। सैद्धान्तिक

पक्ष में भी बहुत से छेद हैं। फिर भी ऋषि दयानन्द की गीता विषयक धारणा देखिये- पं० भूमित्र शर्मा ने श्रीमद्भगवद्गीता की प्रस्तावना में ऋषि दयानन्द की गीता विषयक संस्मरण में लिखा है कि संवत् १९२४ वि० (१८६७ ई०) कर्णवास में गंगा किनारे बहुत से क्षत्रिय श्रोताओं की उपस्थिति में ठाकुर गोपाल सिंह जी के कारिन्दा लाला केसरीलाल कायस्थ ने प्रश्न किया कि महाराज, मैं गीता का पाठ नित्य करता हूँ, यह कैसी पुस्तक है? तब स्वामी जी ने उत्तर दिया कि गीता में सम्प्रदायी लोगों ने बहुत श्लोक मिला दिये हैं। उसमें ७, ९, १०, ११ तथा १२ अध्याय तो समग्र प्रक्षिप्त हैं और अन्य अध्यायों में भी किसी में १०, किसी में ५ श्लोक, तो किसी में दो श्लोक अवतारवादादि के प्रक्षिप्त हैं, उनको छोड़कर शेष गीता शुद्ध है। (डॉ० भवानीलाल भारतीय, वेदवाणी-ज्येष्ठ सं० २०६३ वि०)

दिनकर जी ने ऋषि दयानन्द पर यह भी आक्षेप किया कि उन्होंने कृष्ण, राम आदि को तो परम पुरुष माना ही नहीं। यदि परम पुरुष का अर्थ परमात्मा है, तो यह सत्य है कि वे सृष्टि का संचालन करने वाले परमात्मा नहीं थे। अन्यों द्वारा आचरणीय श्रेष्ठ गुणों से युक्त महापुरुष के रूप में ऋषि ने उन्हें न केवल पदेपदे सम्मान दिया, अपितु उनके तथाकथित भक्तों द्वारा की गई उनकी दुर्दशा पर आँसू भी बहाए। धर्मरक्षिणी सभा मेरठ के प्रश्नों के उत्तर देते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा- **"आप जिनको परमेश्वर का अवतार कहते हैं, ये महा उत्तम पुरुष थे, परमेश्वर की आज्ञा में चलते थे, सत्य धर्म और न्यायादि गुणों सहित थे, वेदादि सत्यशास्त्रों के पूर्ण जानने वाले थे। आज तक न कोई ऐसा हुआ है और न है। .... परन्तु बड़े दुःख की बात है कि आप लोग यद्यपि रामचन्द्र जी और कृष्णादि उत्तम पुरुषों को परमेश्वर का अवतार मानते हो, फिर भी उनकी परले सिरे की निन्दा और बुराई करने में संलग्न रहते हो। राधाकृष्ण का स्वांग बनाकर उनसे घर-घर में भीख मँगवाते हो। उन्हें देखकर कोई कहता है - वाह साक्षात् राधा कृष्ण जी ही आ गये हैं। इन्हीं कन्हैया जी ने हजारों गोपियों के साथ भोग विलास किया है, १६००० रानियाँ रखी हैं, बहुत दूध माखन चुराकर खाया है, नहाते हुए नंगी स्त्रियों के कपड़े तक चुरा लिये हैं, उनको पहरों नग्न सामने खड़ा रखा है। अधिक और कहाँ तक तुम्हारी बातों का वर्णन करुँ। अब लज्जा भी रोकती है और बुद्धि भी आज्ञा नहीं देती।... हाय, हाय, इन बातों के वर्णन से मन पर इतना शोक और दुःख का भार है कि अधिक वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं।------"**

फिर भी दिनकर जी ने ऋषि दयानन्द पर राम-कृष्ण का सम्मान न करने का मिथ्या आरोप लगा दिया, जबकि 'रघुपति राघव' 'सीता राम' का गीत गाकर भी राम व कृष्ण की ऐतिहासिकता को खुले शब्दों में नकारने वाले गाँधी की कोई आलोचना नहीं की। उल्टे, राम को निराकार परमात्मा बताकर तर्कहीन व मनमानी व्याख्या कर डाली। गाँधी की नकल पर ही दिनकर जी ने ऋषि दयानन्द पर एक आरोप और लगा दिया कि स्वामी जी ने भी देश में एक नूतन अन्धविश्वास को जन्म दिया।. ... कि वेद में त्रिकाल का ज्ञान समाहित है। स्वामी जी ने कहा है कि वेद में केवल धर्म की ही बातें नहीं हैं, उसमें विज्ञान की भी सारी बातें प्रच्छन्न हैं।.... आश्चर्य की बात है कि श्री अरविन्द ने स्वामी दयानन्द का समर्थन ही नहीं किया है, प्रत्युत, यह भी शिकायत की है कि स्वामी जी ने वेदों के महत्त्व को घटाकर ही कहा है।' (पृ0 ४७८)

अन्धविश्वास उसे कहते हैं, जो बिना किसी तर्क-वितर्क किये माना जाता है। जबकि ऋषि दयानन्द ने तर्क और प्रमाणों के आधार पर पहले यह सिद्ध किया है कि सृष्टि परमात्मा की रचना है और उसने अपनी प्रजा (मनुष्य आदि प्राणी) के मार्गदर्शन के लिए वेद-ज्ञान दिया है। जब ईश्वर त्रिकाल में है, उसकी रचना है तो उसका ज्ञान केवल कुछ लोगों (जो पहले हो चुके)

के लिए और कुछ धार्मिक पूजा-पाठ तक ही कैसे हो सकता है? जब तक दुनिया ने विमान उड़ते नहीं देखे थे, ऋषि दयानन्द ने वेद में विमान आदि विद्याओं का मूल सिद्ध कर दिया था। पर दुःख है कि दिनकर जी ने वेदों में त्रिकाल ज्ञान मानने का आरोप भी ऋषि दयानन्द पर लगा दिया और इसे नया अन्धविश्वास कहा है। जबकि मनुस्मृति में लिखा है-

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।।

(मनु0 १२-९७)

"चार वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्तमान आदि कालों की विद्या ये सब वेदों से ही प्रसिद्ध होती हैं।"

है न आश्चर्य, अच्छे-बुरे, माँसाहार, शाकाहार, साकार, निराकार, वेद, पुराण, तन्त्र आदि सबको सम्पूर्ण हिन्दुत्व की मान्यता देने वाला कवि ऋषि दयानन्द जैसे तार्किक पर अन्धविश्वास पैदा करने का आरोप लगा रहा है। महाकवि दिनकर ने ऋषि पर एक और मिथ्या आरोप लगाया है- "स्वामीजी ने आर्यावर्त्त की जो सीमा बाँधी है, वह विन्ध्याचल पर समाप्त हो जाती है। आर्य-आर्य कहने, वेद-वेद चिल्लाने तथा द्रविड़ भाषाओं में सन्निहित हिन्दुत्व के उपकरणों से अनभिज्ञ रहने का ही यह परिणाम है कि आज दक्षिण भारत में आर्य-विरोधी आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है।" (पृ०४७८-७९)

महाकवि के ज्ञान पर तो मैं सन्देह नहीं करता, पर इस मिथ्या आरोप पर दुःख होता है। वैदिक मान्यता अनुसार आर्यावर्त्त तो ऋषि दयानन्द से लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व का नाम है। फिर वे इसकी सीमा निर्धारण कैसे करते? और स्वयं दक्षिण भारत (गुजरात) के होकर वे अपने आपको आर्यावर्त्त से बाहर कैसे निकाल सकते थे? दिनकर जी भूल गये कि शताब्दियों से भूले आर्य शब्द को उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचारित करने वाला दक्षिण भारत का संन्यासी था और उसके द्वारा आर्य समाज की स्थापना भी दक्षिण (मुम्बई) में की गई, जिसका मुख्य उद्देश्य वेद का प्रचार था। फिर दिनकर जी कैसे कहते हैं कि आर्य-आर्य और वेद-वेद चिल्लाने से दक्षिण वाले आर्य विरोधी आन्दोलन कर रहे हैं? विरोध का कारण तो आर्य-द्रविड़ का प्रचार करने वालों की देन है। दिनकर जी ने स्वयं लिखा है- "आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किये जाने वाले भारतवासियों का धर्म एक है, संस्कार एक है, भाव और विचार एक हैं तथा जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण भी एक ही है। शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन और बौद्ध, ये आर्य भी थे और द्रविड़ भी।" (पृ० १०)

"अठारहवीं सदी तक भारत में किसी को भी इसका अनुमान नहीं था कि आर्य इस देश के मूल निवासी नहीं हैं अथवा यह कि आर्य और द्रविड़ दो हैं और दोनों के पूर्वज इस देश में बाहर से आये थे। तब सन् १७८६ ई० में सर विलियम जोन्स ने यह स्थापना रखी कि. ...।" (पृ० २१-२२)

फिर दिनकर जी किस आधार पर दक्षिण के आर्य-विरोधी आन्दोलन का दोष ऋषि दयानन्द पर मढ़ रहे हैं। शायद महाकवि जी मनुस्मृति को पढ़ लेते, तो ऋषि दयानन्द पर आर्यावर्त्त की सीमा निर्धारण का मिथ्या दोष न मढ़ते। देखिये, मनुस्मृति में लिखा है-

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः ।।
सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशमार्यावर्त्तं प्रचक्षते।।

(मनु0 २-२२,२३)

इसकी व्याख्या में ऋषि दयानन्द लिखते हैं- "उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पूर्व और पश्चिम में समुद्र तथा सरस्वती पश्चिम में अटक नदी, पूर्व में दृषद्वती जो नेपाल के पूर्व भाग पहाड़ से निकल के बंगाल के आसाम के पूर्व और ब्रह्मा के पश्चिम ओर होकर दक्षिण के समुद्र में मिली है, जिसको ब्रह्मपुत्रा कहते हैं और जो उत्तर के पहाड़ों से निकल के दक्षिण के समुद्र की खाड़ी में अटक मिली है। हिमालय के

मध्य रेखा से दक्षिण और पहाड़ों के भीतर और रामेश्वर पर्यन्त विन्ध्याचल के भीतर जितने देश हैं, उन सबको आर्यावर्त्त इसलिये कहते हैं कि यह आर्यावर्त्त देवों अर्थात् विद्वानों ने बसाया और आर्यजनों के निवास करने से आर्यावर्त्त कहाया है।" (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम् समुल्लास)

दिनकर जी ने तो यह भी नहीं पढ़ा। यहाँ ऋषि ने साफ लिखा है- रामेश्वर पर्यन्त। और रामेश्वर है भारत के दक्षिण छोर पर। हो सकता है मनुकाल या रामायण काल में विन्ध्याचल पूर्वी घाट व पश्चिमी घाट को कहा जाता हो, क्योंकि वाल्मीकि-रामायण किष्किंधा काण्ड में लिखा है-

सह ताराङ्गदाभ्यां तु सहसा हनुमान् कपिः।
सुग्रीवेण यथोद्दिष्टं तं देशं प्रचक्रमे।।
स तु दूरमुपागम्य सर्वैस्तैकपिसत्तमैः।
विचिनोति स्म विन्ध्यस्य गुहाश्च गहनानि च।
(४८-१,२)

हृष्टपक्षिगणाकीर्णः कन्दरोदरकूटवान्।
दक्षिणस्योदधेस्तीरे विन्ध्योऽयमिति निश्चितः।।
(६०-७)

"उधर तार और अंगद के साथ हनुमान् सहसा सुग्रीव के बताये हुए दक्षिण दिशा के देशों (स्थानों) की ओर चले। उन सभी श्रेष्ठ वानरों के साथ बहुत दूर का रास्ता पार करके वे विन्ध्याचल पर गये और विंध्याचल की घाटियों की गहन गुफाओं में (सीता को) खोजने लगे।'' "फिर मैं (सम्पत्ति) ने निश्चय किया कि यह दक्षिण समुद्र के तट पर स्थित विन्ध्य पर्वत है, जो हर्षोत्फुल्ल विहंगमों के समुदाय से व्याप्त है। यहाँ बहुत सी कन्दराएँ, गुफाएँ और शिखर हैं।"

भारत की सामान्य सी भौगोलिक जानकारी रखने वाले लोग भी जानते हैं कि किष्किन्धा (कर्नाटक- वर्तमान जिले कोप्पल और बेल्लारी) दक्षिण में थी और इससे दक्षिण की ओर विन्ध्याचल का वर्णन है, वह भी दक्षिण समुद्र के तट पर अर्थात् ऋषि दयानन्द ने यह मध्यकाल में हुई भूल का सुधार कर आर्यावर्त्त को दक्षिण समुद्र के पास विन्ध्याचल मानकर रामेश्वर पर्यन्त लिखा है। इसके लिये तो समस्त देशवासियों को ऋषि दयानन्द का धन्यवाद करना चाहिये था। इसके विपरीत, दिनकर जैसे कवि दोषारोपण कर अपयश के भागी बने अथवा जान-बूझकर आर्य-द्रविड़ संघर्ष के प्रचारकों में शामिल हो गये।

ऋषि दयानन्द ने भारत को बिल्कुल प्राचीनता से उठाया और उस प्राचीनता का प्रतिनिधित्व करने वाले हैं वैदिक ग्रन्थ और उनकी भाषा संस्कृत। दिनकर जी ने भी दक्षिण के विद्वानों द्वारा संस्कृत में रचे ग्रन्थों का वर्णन कर लिखा है- "उत्तर-दक्षिण का प्रश्न अभी हाल में उठा है। प्राचीन काल में सारा भारत संस्कृत को ही अपनी साहित्य भाषा मानता था।" (पृ० ३६) अतः पुनः समस्त भारत में एकता के लिए ऋषि दयानन्द ने संस्कृत ग्रन्थों को लिया। उसमें भी वेद की कसौटी पर खरे उतरने वाले ग्रन्थों व प्रकरणों को लिया है। किसी की सच्ची झूठी प्रेम कथा लिखने वाले कवियों के नाटक व काव्यों को भी त्याज्य माना है। वर्तमान समय में उन्हें देश का भला हिन्दी भाषा में लगा, तो संस्कृत में अपना पाण्डित्य न दिखाकर राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दी में ही अपने सारे ग्रन्थ लिख डाले। तमिल भाषा की तो छोड़िये, उन्होंने तो अपनी मातृभाषा गुजराती को भी नहीं लिया। अतः दक्षिण भाषाओं के साहित्य के प्रति उपेक्षा वर्तने का ऋषि को कोई दोष नहीं लग सकता। यदि नेहरू जी में राष्ट्रभाषा हिन्दी को दृढ़तापूर्वक लागू करने की इच्छा शक्ति होती और वे हिन्दी को १५ वर्ष का वनवास न देते, तो दक्षिण में भी राजनैतिक षड्यंत्र के अन्तर्गत चलने वाला हिन्दी का विरोध न होता। फिर नेहरू जी के मित्र दिनकर जी को यह न लिखना पड़ता कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित नहीं करके हम संसार के सामने यह बात स्वीकार कर रहे हैं कि हमारा राष्ट्रीय जोश ठण्डा हो रहा है।

(क्रमशः)

❑❑

३३ करोड़ देवताओं का रहस्य क्या है? आओ जानें

(डॉ. गंगाशरण आर्य,साहित्यसुमन मो0:-०९८७१६४४१९५)

हम लंबे समय से सुनते आ रहे हैं कि हिन्दुओं ने राम, कृष्ण, सन्तोषी, दुर्गा, भैरव आदि ना जाने कितने प्रकार के देवी-देवता माने हैं। हिन्दू लोग तो हिन्दू धर्म में ३३ करोड़ देवता हैं, ऐसा मानते हैं। अब प्रश्न ये उठता है कि यदि देवता ३३ करोड़ हैं, तो उनके नाम गिनाने चाहिए इनमें से कम से कम सौ के तो नाम बताए कोई। जैसे "विष्णु सहस्र नाम" की पुस्तक बाजार में मिलती है, उसमें विष्णु के हजार नाम गिनाए हुए हैं, उसी प्रकार कोई ब्राह्मण तैंतीस करोड़ देवताओं के नाम गिनाए, तब तो मानें। हे आर्यावर्त भारत देश की पवित्र वसुन्धरा पर रहने वालो! ऋषि सन्तानो! भारतीयो जागो, आँखें खोलो जरा विचार तो करो क्या होगा इन हिन्दुओं का जो समझने व सम्भलने का नाम नहीं ले रहे हैं, समय-समय पर कितने महापुरुष आए और कितने चले गए, जिन्होंने इस हिन्दू जाति अथवा वर्ग को जगाने की कोशिश की और सत्य पथ पर लाने के लिए पुरजोर प्रयास किया पर इनके कानों पर जूं तक नहीं रेंगती। इस जाति को धर्म के नाम पर लूटने वाले धर्म के ठेकेदारों ने नोंचना शुरू कर दिया, जो अब तक भी निरन्तर जारी है। अब तो सँभल जाओ। आओ, इन देवताओं के सत्य रहस्य को जानने का प्रयास करें और उस सत्य पथ पर कदम बढ़ाएँ, जिस पर हमारे पूर्वज, ऋषि-महर्षि चले और जिन्होंने घोर तप करके समस्त मानव जाति के कल्याण हेतु परमात्मा की दिव्य वाणी वेदज्ञान को सुरक्षित रखकर हमारा मार्ग प्रशस्त किया। बस वही राह हमारे कल्याण की सच्ची राह है। ऋषि-महर्षियों की सन्तानों को जब घोर अज्ञान अविद्या की ओर बढ़ता देखता हूँ, तो मेरे मन में पीड़ा होती है। इसी पीड़ा ने मुझे भी लिखने को विवश कर दिया।

आज तक हमारे धार्मिक साहित्य में कहीं भी ३३ करोड़ देवताओं का उल्लेख नहीं है परन्तु ३३ कोटि देवताओं का वर्णन है, लेकिन वे देवता ईश्वर व उपासनीय नहीं माने जाते। ये तो अज्ञानी लोगों की भूल है कि देवता को ईश्वर मानते हैं और उपासना करने लगते हैं। 'देवता' दिव्य गुणों से युक्त होने के कारण कहाते हैं और वे ३३ कोटि हैं। 'कोटि' का एक अर्थ- करोड़ और दूसरा- प्रकार होता है। यहाँ कोटि का अर्थ 'करोड़' नहीं बल्कि प्रकार है, ठीक उसी तरह जैसे- उच्च कोटि का विद्वान्, या उच्च कोटि का साहित्य अर्थात् श्रेष्ठ प्रकार का विद्वान् या श्रेष्ठ स्तर का साहित्य ऐसे ही ३३ कोटि देवता अर्थात् ३३ प्रकार के देवता हैं। वैदिक साहित्य में ये निम्न प्रकार के हैं-आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य ये इकत्तीस तथा एक इन्द्र और एक प्रजापति मिलकर ३३ प्रकार के देवता होते हैं। सभी ३३ के गुण एक जैसे नहीं हैं इसीलिए ३३ प्रकार (कोटि) के हैं। सभी एक जैसे हों तो ३३ कोटि के स्थान पर ३३ ही हैं, ऐसा प्रयोग होता।

(क) वसु किसे कहते हैं तथा वे कौन से हैं?

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चंद्रमा, सूर्य और नक्षत्र ये वसु हैं, सब सृष्टि के निवास स्थान होने से ये अष्ट वसु कहलाते हैं।

(ख) रुद्र कौन से हैं?

पाँच मुख्य प्राण और पाँच उपप्राण तथा एक जीवात्मा ये ग्यारह रुद्र कहलाते हैं। मुख्य प्राण निम्नलिखित हैः- प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान। प्राण- इसका स्थान नासिका से हृदय तक है। नेत्र, नासिका, श्रोत्र, मुख आदि अवयव इसी के सहयोग से कार्य करते हैं। यह सभी प्राणों का राजा है। जैसे- राजा अपने अधिकारियों को विभिन्न स्थानों पर विभिन्न कार्यों के लिए नियुक्त करता है। अपान- इसका स्थान नाभि से पाँव तक है। यह गुदा इन्द्रिय द्वारा मल व वायु को, उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) द्वारा मूत्र व वीर्य को तथा योनि द्वारा

रज व गर्भ को शरीर से बाहर निकालने का कार्य करता है। व्यान- यह सम्पूर्ण शरीर में रहता है। हृदय से मुख्य १०१ नाड़ियाँ निकली हैं, प्रत्येक नाड़ी की १००-१०० शाखाएँ हैं तथा प्रत्येक शाखा की भी ७२००० उपशाखाएँ हैं। इस प्रकार कुल ७२७२१०२०१ नाड़ी शाखा-उपशाखाओं में यह रहता है। समस्त शरीर में रक्त-संचार, प्राण-संचार का कार्य यही करता है तथा अन्य प्राणों को उनके कार्यों में सहयोग भी देता है। उदान- यह कण्ठ से सिर (मस्तिष्क) तक के अवयवों में रहता है। शब्दों का उच्चारण, वमन (उल्टी) को निकालना आदि कार्यों के अतिरिक्त यह अच्छे कर्म करने वाली जीवात्मा को अच्छे लोक (उत्तम योनि) में, बुरे कर्म करने वाली जीवात्मा को बुरे लोक (अर्थात् सुअर, कुत्ते आदि की योनि) में तथा जिस आत्मा ने पाप-पुण्य बराबर किए हों, उसे मनुष्य लोक (मानव योनि) में ले जाता है। समान- इसका स्थान हृदय से नाभि तक बताया गया है। यह खाए हुए अन्न को पचाने तथा पचे हुए अन्न से रस, रक्त आदि धातुओं को बनाने का कार्य करता है।

उपप्राण निम्नलिखित हैं :- नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय। नाग- यह कण्ठ से मुख तक रहता है। उद्गार (डकार), हिचकी आदि कर्म इसी के द्वारा होते हैं। कूर्म-इसका स्थान मुख्य रूप से नेत्र गोलक है। यह नेत्र गोलाकों में रहता हुआ उन्हें दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाने की तथा पलकों को खोलने-बंद करने की क्रिया करता है। आँसू भी इसी के सहयोग से निकलते हैं। कृकल- यह मुख से हृदय तक के स्थान में रहता है तथा जृम्भा (जंभाई=उबासी), भूख, प्यास, आदि को उत्पन्न करने का कार्य करता है। देवदत्त- यह नासिका से कण्ठ तक के स्थान में रहता है। इसका कार्य छींक, आलस्य, तन्द्रा, निन्द्रा आदि को लाने का है। धनंजय- यह सम्पूर्ण शरीर में व्यापक रहता है। इसका कार्य शरीर के अवयवों को खींचे रखना, माँसपेशियों को सुन्दर बनाना आदि है। शरीर में से जीवात्मा के निकल जाने पर यह बाहर निकल जाता है, फलतः इस प्राण के अभाव से शरीर फूल जाता है। जब ये सभी प्राण और जीवात्मा ये ग्यारह रूद्र शरीर को छोड़ते हैं, तब रोदन कराने वाले होते हैं⁄ ये रुलाते हैं अतः रूद्र कहाते हैं।

(ग) आदित्य कौन से हैं?

काल गणना में प्रयुक्त संवत्सर (वर्ष) के बारह महीने-चेत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ, फाल्गुन-बारह आदित्य इसलिए कहाते हैं क्योंकि ये चक्रवत भ्रमण करके उत्पन्न हुई वस्तुओं में आन्तरिक परिवर्तन करके पुनः रुपान्तरित कर देते हैं, यह सबकी आयु को ले लेते हैं अर्थात् कारण से कार्य और कार्य को कारण रूप में परिवर्तित करते रहते हैं। कहने का तात्पर्य है कि सृष्टि के समस्त पदार्थों के अनादि प्रवाह का हेतु होने से देव हैं।

(घ) इंद्र किसे कहते हैं?

बिजली का नाम इंद्र इसलिए है कि यह परम ऐश्वर्य का हेतु है। जगत के सम्पूर्ण कार्य बिजली के समान ही दो धाराओं पर आधारित हैं। यदि ये दो धाराएँ नहीं होंगी, तो सृष्टि असंभव है इसलिए दो धाराओं को प्रवाहित करने वाली बिजली अर्थात् इन्द्र उत्तम ऐश्वर्य की विद्या का मुख्य हेतु होने से देव है।

(ङ) प्रजापति किसे कहते हैं?

महर्षि ने प्रजापति के दो अर्थ दिए हैं- एक तो यज्ञ और दूसरा पशु। यज्ञ को प्रजापति इसलिए कहते हैं कि यज्ञ के द्वारा वायु, वृष्टि, जल, औषधि की शुद्धि, विद्वानों का सत्कार और नाना प्रकार की शिल्पविद्या से प्रजा का पालन होता है तथा सबका कल्याण होता है और पशु को प्रजापति इसलिए कहते हैं क्योंकि उनसे भी प्रजा का जीवन चलता है अर्थात् प्रभु की सृष्टि का एक-एक प्राणी प्रजा के हित में लगा है, प्रजा के पालन में सहयोगी होने से प्रजापति को देव कहते हैं

ये तैंतीस अपने-अपने गुणों के योग से देवता कहाते हैं। इनका स्वामी और सबसे बड़ा होने से सच्चिदानंदस्वरूप परमात्मा चौंतीसवाँ उपास्यदेव कहा गया है। परमेश्वर देवों का देव होने से 'महादेव' इसलिए कहाता है कि वही सब जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करता, न्यायाधीश, अधिष्ठाता है। सच्चिदानंद स्वरूप होने से केवल यही एक है, जो उपासना के योग्य है अन्य कोई नहीं।

जो सब दिव्य गुण, कर्म, स्वभाव, विद्यायुक्त और जिसमें पृथ्वी सूर्य्यादि लोक स्थित हैं और जो आकाश के समान व्यापक, सब देवों का देव सच्चिदानंद परमेश्वर है; उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और न उसका ध्यान करते, वे नास्तिक और दुःखी होते हैं, इसीलिए उसी को जानकर मनुष्य सुखी होते हैं। लेकिन कोटि शब्द का सही अर्थ न समझने के कारण वेदों से अनभिज्ञ लोगों ने कोटि का अर्थ करोड़ मानकर उपरोक्त ३३ प्रकार के देवताओं के स्थान पर ३३ करोड़ देवताओं की मिथ्या कल्पना कर सभी को ईश्वर के स्थान पर उपास्य देवता मानकर मूर्तिपूजा को बढ़ावा दिया है, जो मात्र धर्म की आड़ लेकर लूटने वाले मुखोटाधारी, पेटार्थी कथित ब्राह्मणों की गप्प है इसलिए वास्तविकता को पहले जानो फिर मानो, इसी में मानव जीवन की सार्थकता है।

समाहारः- मनुष्य को जिन्दा रहने के लिए और जिन्दा रहकर स्वस्थ सुखी सम्पन्न बने रहने के लिए जो ईश्वर प्रदत्त साधन रूप जड़-चेतन पदार्थों की प्राप्ति है, वह सब ३३ प्रकार के देवता के रूप में उपरोक्त वर्णित है।

जीवन शक्ति को धारण कराने वाले होने से पंच महाभूत एवं सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र के द्वारा सम्पूर्ण वनस्पति, ऋतु आदि का निर्माण होता है अतः ये 'वसु' कहलाते हैं। धरती को वसुन्धरा इसीलिए कहते हैं।

जीवन शक्ति (वसु) को विभिन्न कार्यों में इस्तेमाल करने वाली प्राणशक्ति (१० प्रकार की) है। जीवनी शक्ति न रहे, तो प्राण भी कूच कर जाते हैं। प्राण निकलें, तो खुद को भी रोना आता है और जिन प्राणियों का वो आश्रय है, उन्हें भी रोना आता है। जब मृत्यु आती है, तो प्राण सहित आत्मा शरीर से निकल जाती है। अतः वह आत्मा भी देवता है, जिससे कइयों का गुजारा हो रहा था। इनमें पति-पत्नी, पुत्र, मित्र, सम्बन्धी, गुरु और शिष्य सभी गिनाये जा सकते हैं।

इसी प्रकार एक मनुष्य को अपने जीवन में साधन के रूप में जहाँ जड़ पाँच महाप्राण आदि की जरूरत है, वहाँ आत्म-स्वरूप चेतन प्राणी मनुष्य, पशु-पक्षी आदि की भी जरूरत है। अतः ये सभी जीवात्मा स्वरूप देवता हैं।

सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्र आदि की गति से बनने वाले दिन-रात-मास-वर्ष-ऋतु आदि को १२ आदित्य के रूप में देवता माना है। यह साधन भी जरूरी हैं, इनके बिना भी स्वस्थ, सुखी-सम्पन्न नहीं बना जा सकता।

इसी प्रकार प्रकाश, ताप और चुम्बकीय शक्ति का उत्पादक विद्युत, जिसे 'इन्द्र' नाम से देवता के रूप में माना गया है। यह अपने आप में परमैश्वर्य का हेतु है। आधुनिक भौतिक जगत में भी जितने भी वाहन हैं, चाहे वे बैटरी से संचालित हों या पैट्रोल-डीजल से संचालित हों, सभी विद्युत से बनी अस्थायी चुम्बकीय शक्ति द्वारा चलायमान हैं। सभी प्रकार के पंखे, विद्युत मोटर (पानी उठाने व चढ़ाने की) में पहले चुम्बकीय शक्ति बनती है, फिर चुम्बकीय शक्ति से संचालित होती है, इसी से सारे विश्व में ऐश्वर्य की प्राप्ति हो रही है। अतः इन्द्ररूपी विद्युत भी मनुष्य जीवन का एक मुख्य साधन है और देवता के रूप में मान्य है।

इसी प्रकार यज्ञ-विधान के द्वारा सम्पूर्ण वायुमण्डल, जल एवं पृथ्वीभर के प्रदूषण तथा रेडियोधर्मी किरणों का दुष्प्रभाव सभी से निरन्तर निजात पाने के लिए यज्ञ ही एक ऐसा देवता है, जो पहले दिव्य हव्य पदार्थों (हवन करने योग्य उत्तम पदार्थों) को ग्रहण करता है, फिर अपनी भेदक शक्ति से हजारों गुणा बढ़ाकर सभी को सप्रेम भेंट कर देता है। चाहे यज्ञ करने वाले यजमान का शत्रु हो या मित्र इसीलिये सम्पूर्ण धरती की प्रजा का पति (पालक) होने से 'प्रजापति' नामक देवता कहलाता है।

अतः साधन रूप इन जड़-चेतन सभी प्रकार के देवताओं का सदुपयोग (पूजा) करेंगे, तो हम सभी अपने साध्य परमेश्वर के सानिध्य से वैदिक मार्ग के पथिक बने रहेंगे और पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का मूलमंत्र "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भगभवेत्"। गूँजता रहेगा।

❑❑

सूर्य के सम्बन्ध में फैलती विभिन्न भ्रान्तियां

(भावेश मेरजा)

'आर्यजगत्' साप्ताहिक के १७ जनवरी २०१६ के अंक में एक पत्र छपा है, जिसका शीर्षक है-

'ऊर्जा के स्तम्भ को नमन करने से परहेज़ क्यों?' इसमें लिखा है कि- सूर्य का कुछ भी क्षरण नहीं होता है, हम लोग सूर्य की शक्ति का आकलन नहीं कर पाये, सूर्य की शक्ति अपरम्पार है, असीम है, फिर इस महान् ऊर्जा के स्तम्भ को नमन करने से परहेज़ क्यों? पत्र- लेखक महोदय ने अन्त में अपना आशय पकट करते हुए लिखा है- "विश्व के अनेक देशों में सूर्य की आराधना करने की परम्परा हजारों सालों से चली आ रही है। इसी परम्परा को निभाते हुए आर्यसमाज में यज्ञ के दौरान आहुति देते समय सूर्य को नमन किया जाता है। सूर्य सर्वशक्तिमान् है और सदैव सर्वशक्तिमान् रहेगा।"

उपर्युक्त पत्र में कई दोष हैं, जिनके कारण कई पाठकों को सूर्य के विषय में मिथ्या ज्ञान या भ्रान्तियाँ हो सकती हैं। इतना ही नहीं, उसमें आर्यसमाज के सिद्धान्त के विरुद्ध भी बातें पाई जाती हैं।

सूर्य विशाल है, अनन्त नहीं

वास्तविकता यह है कि सूर्य (Sun) एक जड़ कार्य-पदार्थ है, जिसकी रचना ईश्वर ने प्रकृति (सृष्टि के उपादान-कारण) में से की है- सृष्टि की रचना करते समय। **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता....'** ऋग्वेद (१०.१९०.३) का यह मन्त्र जो वैदिक सन्ध्या में पढ़ा जाता है, इस बात का प्रमाण है। संयोग से उत्पन्न होने वाला कार्य-पदार्थ एवं उस कार्य-पदार्थ के गुण कदापि अनन्त, असीम, अपरम्पार नहीं हो सकते। सूर्य अति विशाल तो है ही। उसका व्यास लगभग १३ लाख ९० हजार किलोमीटर है, जो पृथ्वी से लगभग १०९ गुना अधिक है। फिर भी उत्पत्ति धर्म वाला कार्य-पदार्थ होने से सूर्य अन्त वाला, ससीम पदार्थ ही है, अनन्त नहीं है। वैज्ञानिकों का मत है कि सूर्य आज सबसे अधिक स्थिर अवस्था में अपने जीवन के लगभग आधे रास्ते पर है और उसमें कई अरब वर्षों से नाटकीय रूप से कोई बदलाव नहीं हुआ है और आगामी कई वर्षों तक वह ऐसा ही बना रहेगा। परन्तु सूर्य सदैव एक ही रूप में विद्यमान नहीं रहता है। उसमें भी सतत् सूक्ष्म परिवर्तन तो होते ही रहते हैं- परिणामी प्राकृतिक पदार्थ होने से। सूर्य उत्पन्न हुआ है, स्वयम्भू नहीं है। इसलिए एक-न-एक दिन वह अवश्य नाश को प्राप्त होने वाला है। सूर्य अनादि, अनुत्पन्न, नित्य पदार्थ नहीं है।

सूर्य सर्वशक्तिमान् नहीं

यह सत्य है कि सूर्य भौतिक ऊर्जा (Energy) का महान् स्रोत है, मगर इससे वह चेतन नहीं हो जाता। सर्वज्ञ ईश्वर ने सूर्य की रचना ही ऐसी की है कि जिससे ग्रह-उपग्रह रूपी लोकों की प्रणाली इतनी सुव्यवस्थित रूप से चलती रहती है और सूर्यादि का ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने से हमें अनेकविध सुखों की प्राप्ति होती है। समस्त सृष्टि के संचालन के लिए सूर्य सदृश अनेकानेक वृहद् पदार्थों की आवश्यकता रहती है, इसीलिए तो ईश्वर ऐसे महान् अद्‌भुत पदार्थों का सृजन करता है। ईश्वरीय ज्ञान में सूर्य की सत्ता के पीछे न जाने कितने ही प्रयोजन रहते होंगे। क्योंकि सर्वज्ञ ईश्वर का कोई भी कार्य निष्प्रोजन तो होता ही नहीं है। परन्तु मनुष्य (जीवात्मा) की स्थिति भिन्न है। वह स्वभावतः अल्पज्ञ है। अतः ईश्वर द्वारा निर्मित किसी भी पदार्थ को- चाहे वह पदार्थ अल्प परिणाम युक्त हो या सूर्यादि की तरह बृहद् परिणामयुक्त हो- उसे वह पूर्णतः कभी नहीं जान पाता है। ऐसा ही ईश्वरीय ज्ञान

वेद के सम्बन्ध में है। वेद को भी मनुष्य पूर्णतः-शत-प्रतिशत कभी नहीं जान पाता है। वह ऐसी स्थिति कभी प्राप्त नहीं कर सकता है कि जिसमें वह ऐसी घोषणा कर सके कि इस वेदमन्त्र का बस यही और इतना ही अर्थ है, यही अर्थ अन्तिम है, ईश्वर का इस वेदमन्त्र का प्रकाश करने में बस यही और इतना ही प्रयोजन है। **जीवात्मा नैमित्तिक ज्ञान को प्राप्त कर बहुज्ञ तो हो सकता है, परन्तु सर्वज्ञ कभी नहीं हो सकता है।** इसलिए सूर्य को भी मनुष्य कभी पूर्णतः नहीं जान पाएगा। सूर्य की ही तरह वह एक छोटी-सी चींटी या मनुष्य की आँख को भी पूर्णतः कभी नहीं जान पाएगा। इसी बात से ईश्वर की महानता का, उसके अनन्त ज्ञान का, उसकी अद्भुत रचना-सामर्थ्य का, उसके विचित्र स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। वही ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। सूर्य सर्वशक्तिमान् नहीं है। ईश्वर अपने समस्त कार्यों को बिना अन्य किसी की सहायता लिए सम्पन्न कर सकने में पूर्णतः सक्षम है, इसीलिए उसे 'सर्वशक्तिमान्' कहा जाता है। केवल एक वही सर्वशक्तिमान् है। सूर्य उसी सर्वशक्तिमान् ईश्वर की रचना मात्र है।

जड़ को चेतन समझना अविद्या

ईश्वर ने सूर्य में अनेक ज्ञात-अज्ञात दिव्य गुणों का स्थापन किया है। इसलिए हमें सूर्य का-सूर्य के गुणों का अन्वेषण कर, उसका ज्ञानपूर्वक सदुपयोग करते रहना चाहिए। वही उसकी सत्ता का वास्तविक प्रयोजन है। परन्तु उसे ईश्वर का स्थानापन्न समझकर उसकी आराधना, नमन या नमस्कार नहीं करना चाहिए। जड़ पदार्थ की ऐसी अज्ञान-जन्य पूजा-उपासना एक प्रकार की नास्तिकता ही है। यजुर्वेद (४०.९) में सूर्य जैसे 'सम्भूति' - कार्य-पदार्थ की उपासना के भयंकर परिणाम बताए हैं। अतः सूर्य ईश्वर जैसा उपासनीय कभी नहीं हो सकता। ईश्वर चेतन है, सूर्य अचेतन- जड़ है। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने लिखा है- **"सच तो यह है कि सूर्यादि लोक जड़ हैं।"** हमें सूर्यादि जड़ पदार्थों का स्वयं के तथा अन्यों के कल्याण के लिए ज्ञानपूर्वक प्रयोग करना है। **ईश्वर-निर्मित उन जड़ प्राकृतिक पदार्थों को ही ईश्वर मान लेना तो महर्षि पतंजलि जी के शब्दों में अनात्मा को आत्मा मानने तुल्य 'अविद्या' ही है।** (द्रष्टव्य योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र ५)

वैदिक कर्मकाण्ड में सूर्य की पूजा का विधान नहीं

यह भी बड़ी भ्रान्ति है कि आर्यसमाज में यज्ञ के दौरान आहुति देते समय सूर्य को नमन किया जाता है। ऋषि दयानन्द कृत 'पञ्चमहायज्ञविधिः' ग्रन्थ में **'ओं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा'** इत्यादि आहुति के मन्त्रों में आए **'सूर्य'** शब्द का अर्थ **'चराचर का आत्मा', प्रकाश-स्वरूप और सूर्यादि प्रकाशक लोकों का भी प्रकाशक परमेश्वर'** ही किया है, जड़ सूर्य नहीं। ऋषि ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के वेदविषयविचारः प्रकरण में तो स्पष्ट लिखा है- **"इनमें से (सूर्यादि 'देवों' में से) कोई भी उपासना के योग्य नहीं है, किन्तु व्यवहार मात्र की सिद्धि के लिए ये सब देव हैं, और सब मनुष्यों के उपासना के योग्य तो देव एक ब्रह्म ही है।"** अतः सूर्य कदापि उपासनीय नहीं हो सकता और उसे नमन या नमस्कार करना ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों से नितान्त प्रतिकूल है। सत्यार्थ प्रकाश के ११वें समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने लिखा है- **"किसी जड़ पदार्थ के सामने शिर झुकाना वा उसकी पूजा करनी सब मूर्तिपूजा है।"** अतः सूर्य की आराधना-पूजा अर्चना, नमन आदि करने को अविद्याजन्य यवहार-मूर्तिपूजा ही माना जाएगा। आर्य लोग तो विद्यायुक्त व्यवहार करते हैं।

सूर्य ओम् का जाप कर रहा है?

आजकल इंटरनेट आदि पर एक बात प्रसारित हो रही है, जिसमें बताया गया है कि नासा (NASA) ने सूर्य की आवाज (Sound of Sun) रिकॉर्ड की है, जिसे

सुनकर वैज्ञानिक हैरान हो गए हैं। क्योंकि यह 'ओम्' की आवाज थी! स्वाभाविक है कि ऐसी बातें भारतवासियों को और विशेषकर धार्मिक वृत्ति के लोगों को बहुत पसन्द आती हैं और वे उन पर एकदम विश्वास कर लेते हैं। इसके सम्बन्ध में मेरा केवल यही निवेदन है कि अगर वैज्ञानिकों द्वारा सूर्य से निकलने वाली ध्वनि को सच ही में रिकार्ड किया गया है और वह उपलब्ध होती है, तो उस ध्वनि को हमें ध्यानपूर्वक अवश्य सुनना चाहिए। क्योंकि केवल तब ही इस बात का पता चल सकेगा कि वह वास्तव में 'ओम्' की ध्वनि है, या उससे मिलती-जुलती अस्पष्ट सी कोई अन्य ध्वनि है? **जड़-ज्ञानशून्य पदार्थ होने से सूर्य संकल्प पूर्वक "जाप" आदि क्रिया तो कर ही नहीं सकता है। 'मेरा (ईश्वर का) नाम ओ३म् है'-** इस बात का सर्वप्रथम प्रकाश तो सृष्टि के आरम्भ में स्वयं ईश्वर ने ही यजुर्वेद के माध्यम से वायु नामक एक आदि-ऋषि की आत्मा में किया है- **'ओ३म् क्रतो स्मर', 'ओ३म् खं ब्रह्म'**! (अध्याय ४०)

गायत्री मन्त्र सूर्य की स्तुति का मन्त्र नहीं

कई लोगों की ऐसी मान्यता है कि प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में सूर्य की स्तुति की गई है। वे लोग मन्त्रगत 'सवितुः' का अर्थ सूर्य करते हैं। यह भी एक बड़ी भ्रान्ति है। सूर्य को हम लोग कैसे धारण कर सकते हैं? और सूर्य कैसे हमारी बुद्धियों को प्रेरित करने में समर्थ हो सकता है? सूर्य कैसे हमें बुरे कामों से छुड़ाकर अच्छे कामों में प्रवृत्त कर सकता है? इस मन्त्र के 'सवितुः' शब्द का अर्थ सूर्य करने से ये दोनों ही क्रियाएँ- **'धीमहि'** और **'प्रचोदयात्'** सार्थक नहीं हो सकती हैं। 'सवितुः' का अर्थ परमात्मा ग्रहण करने पर ही ये दोनों क्रियाएँ सार्थक हो सकती हैं। सर्वव्यापक, अन्तर्यामी ईश्वर को हम अपनी आत्मा में, अपने अन्तःकरण में ध्यान-समाधि आदि अध्यात्म साधनों के माध्यम से सम्यक् धारण कर सकते हैं; और वही ईश्वर हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर हमें सन्मार्ग में प्रेरित भी करता है। अतः गायत्री मन्त्र में केवल ईश्वर की ही स्तुति, उपासना की गई है और उसी को **'धियो यो नः प्रचोदयात्'** यह प्रार्थना समर्पित की गई है- जड़ सूर्य को नहीं।

❑❑

सत्य धर्म रक्षक मनु महाराज

(आचार्य शंकर मरमट ,विद्यावाचस्पति,वेदाचार्य,व्याकरणाचार्य उदयपुर-राज0)

मनुवादी मनुवादी कह, मत मनु को बदनाम करो।
हिम्मत हो तो सामने आओ, और चुनौती स्वीकार करो।।

मननशील होकर जो जग में, करता सत्य विचार।
वही मनु कहलाता सच में, जरा करलो सोच विचार।।
न्याय तुला पर तौल सत्य को, फिर सच्ची तुम बात करो।
मायावती की माया में फँस, मत मनु को बदनाम करो।। १।।

जातिवाद फैलाने वालो, गुण गरिमा घटाने वालो।
आरक्षण को चाहने वालो, परीक्षा से घबराने वालो।।
पाखण्ड फूट के बल पर, धूर्त नीति चलाने वालो।
मनु को जानो फिर बात करो, मत मिथ्या प्रलाप करो।। २।।

जातिवाद नहीं मनु ने फैलाया, गुण कर्मों से वर्ण बताया।
सबको समान न्याय दिलाया, नहीं अनीति को अपनाया।।
जो जग में जितना त्याग करे, जीवन में गुण आधान करो।
उसका उतना सम्मान करो, मत व्यर्थ अभिमान करो।। ३।।

जो जीवन में वेदों को धारे, सारा जीवन उस पर वारे।
यज्ञ करे उपदेश करे, अज्ञान मिटा सद्ज्ञान भरे।।
व्यसनों से जो दूर रहे, धर्म ध्यान में लीन रहे।
द्विज मान उसे वरण करो, मनु कहे बहु मान करो।। ४।।

प्रजापालन व्रत को धारे, राजधर्म पर जीवन वारे।
प्रजा के हित जो धनु धरे, रण विमुख हो कभी न चरे।।
प्राणों पर चाहे संकट आये, न्याय पथ से कभी न टरे।
ऐसे राजा का वरण करो, आज्ञा उसकी नित शिर धरो।। ५।।

अन्याय अधर्म का नाश करे, धर्म ध्यान का त्राण करे।
शरणागत का मान करे, प्राण जाय पर वचन न टरे।।
वर्णाश्रम की रक्षा हित, जो जीवन अपना दान करे।
ऐसे शूरवीर क्षत्रिय का, मनु कहे सदा सम्मान करो।। ६।।

पशु पालन और कृषि करे, लेन देन व्यवहार करे।
अकाल और भुखमरी में, कभी न संचित धन करे।।
निर्धन का नित त्राण करे, राष्ट्र रक्षा हित दान करे।
ऐसे वणिक निरभिमानी का, मनु कहे, नित मान करो।। ७।।

सब वर्णों की सेवा में नित, जो अपना जीवन व्रत धारे।
बिन ईर्ष्या सेवा कर्म करे, परम धर्म नित्य मान करे।।
दुष्कर तप सेवा धर्म से, वर्ण धर्म को सफल करे।
ऐसे शुचि शूद्र तपस्वी का, मत कभी अपमान करो।। ८।।

जन्म से जाति शूद्र ही होती, संस्कारों से होते द्विज।
भेदभाव है यहाँ कहाँ पर, गुण कर्म से वरण करो।।
त्याग तपस्या और श्रम से, जिसको चाहो वरण करो।
बिगड़ी हुई व्यवस्था से मत मनु को बदनाम करो।। ९।।

❑❑

शाकाहार पूर्णतया निष्पाप है
(स्वामी वेदानन्द सरस्वती-उत्तरकाशी)

कुछ लोग शङ्का करते हैं- पेड़-पौधों में जीवन है, तो उनके काटने में पाप क्यों नहीं है?

समाधान :- वेद मन्त्र का पाठ है- ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः ......।।

अर्थात्- औषधियाँ और वनस्पतियाँ हमारे लिए शान्तिदायिनी हों।

प्रथम औषधि-वनस्पति के भेद को समझें :-

औद्भिजं तु चतुर्विधम् प्रोक्तम्।

वनस्पतिर्वीरुध वानस्पत्य तथौषधम्।।

अर्थात्- पृथ्वी को भेदकर निकलने वाले वृक्षादि के चार भेद होते हैं :-

१. वनस्पति २. वानस्पत्य ३. वीरुध ४. ओषधि।

१. फलैर्वनस्पति :- जिनमें बिना फूल के फल आता है। जैसे- पीपल, ढाक, गूलर, अंजीर आदि ये वनस्पति हैं।

२. पुष्पफलैर्वानस्पत्य :- पुष्प आकर जिनमें फल आता है, वे वानस्पत्य कहलाते हैं। जैसे- आम, अमरूद, सेब आदि।

३. फलपकान्ता औषधय :- जिनमें फल पक जाने पर पौधा भी पककर सूख जाये, वे ओषधि कहलाते हैं। जैसे- गेहूँ, धान, मक्का, जौ, चना आदि।

४. प्रतानैर्विरुध :- सूत जैसी लताएँ, जिनमें रहती हैं, वे विरुध कहलाते हैं। जैसे - लौकी, तुरई, तरबूज आदि।

इन सभी में परमात्मा ने प्राणिमात्र के हित के लिए विशेष गुणों का निर्धारण किया है। इनके जड़, पत्ते, फूल, फल, काष्ठ, छिलके आदि में विशेष गुण होते हैं। ये कार्बन वायु को लेकर ऑक्सीजन प्रदान करते हैं। पीपल, ढाक, बरगद आदि पेड़ रात्रि में भी ऑक्सीजन छोड़ते हैं। तुलसी के पौधे में भी यह गुण होता है। मिट्टी, खाद, पानी लेकर ही ये मानव मात्र के लिए शाक, फल, फूल, पत्र आदि प्रदान करके उपकार करते हुवे अपने भोगों का भुगतान कर रहे हैं।

वृक्षों में जीवात्मा- कुछ लोग वृक्षों में जीव नहीं मानते। वेद शास्त्र आदि वृक्षों में जीव मानते हैं। इसमें हम कुछ प्रमाण देते हैं। **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाय समानं वृक्षं परिसस्वजाते।**

अर्थात्- एक ही वृक्ष में आत्मा और परमात्मा दो सखाओं का वास है। महर्षि दयानन्द जी भी वृक्षों में जीव मानते हैं। वे सत्यार्थ प्रकाश के नौवें समुल्लास में लिखते हैं-**''जो नर शरीर से चोरी,परस्त्रीगमन, श्रेष्ठ पुरुषों की मृत्यु आदि दुष्टकर्म करता है, उसे वृक्षादि स्थावर का जन्म मिलता है।''**

२. जो अत्यन्त तमोगुणी मानव हैं, वे स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, सर्प, पशु आदि के जन्म को पाते हैं।

३. इस संसार में जीवों के दो प्रकार के जन्म होते हैं। एक तो मनुष्य का जन्म धारण करना और दूसरा नीच गति से पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, वृक्षादि का जन्म होना। (ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका)

४. श्वास-प्रश्वास और खाद्य सेवन जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण हैं।

इनके काटने/जलाने में पाप क्यों नहीं? अब इस पर विचार करते हैं। इनके फल, फूल, पत्रादि अन्य प्राणियों के लिए जीवन प्रदान करते हैं। इनको काटने का अर्थ हुआ प्राणिमात्र के जीवन पर आघात करना। इस दृष्टि से ओषधियों का विनाश पाप का जनक है। किन्तु उस पौधे की आत्मा को कष्ट होता है- ऐसा कहना समीचीन नहीं है। जैसे- अन्धा आदमी देख नहीं सकता। बहरा सुन नहीं सकता। कहावत है- **'आँख फूटी पीड़ गई'**। वैसे ही व्यक्ति को बेहोश करके डॉक्टर

ऑपरेशन करता है, तो उस व्यक्ति को दर्द का ज्ञान नहीं होता। ऐसी ही अवस्था में पेड़-पौधों की आत्मा रहती है। उनकी यह केवल भोगयोनि है।

मानव के शरीर और पेड़-पौधों में बहुत अन्तर है। वेद में कहा है-

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पुरोधया।

मानव के शरीर में आठ चक्र (संस्थान) काम कर रहे हैं तथा इस में नवद्वार हैं। किन्तु पेड़-पौधों में न ही आठ चक्र हैं और न नवद्वार हैं।

हमारे शरीर में आठ संस्थान (चक्र) निम्नलिखित हैं :-

१. अस्थि संस्थान।

२. मांसपेशी संस्थान।

३. पाचन संस्थान।

४. रक्ताभिसरण संस्थान।

५. श्वसन संस्थान।

६. सफाई संस्थान।

७. उत्पत्ति संस्थान।

८. नाड़ी संस्थान।

कुछ लोग इन्हें मूलाधार स्वाधिष्ठान आदि नामों से बखान करते हैं।

मानव की आत्मा तीन शरीरों में रहती है। स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर में और उसमें कारण शरीर।

आत्मा कारणशरीर के अन्दर विराजमान है। किन्तु पेड़-पौधों में केवल स्थूल शरीर ही होता है। सूक्ष्म और कारण शरीर नहीं होते।

मानव शरीर व पेड़-पौधों में भेद :-

मानव शरीर

१. यह कर्म और भोगयोनि है।

२. इसमें रक्त, माँस मेद, अस्थि, वीर्य आदि धातुवें होती हैं।

३. इसमें मस्तिष्क और नाड़ीतन्त्र होता है।

४. मानव शरीर में प्राण के साथ इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि का योग भी रहता है।

५. इसके हाथ पैर सिर काटने पर नये नहीं उगते हैं।

६. मनुष्य मन से सुख-दुःख अनुभव करते हैं।

७. सूक्ष्म शरीर होता है।

८. मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, गुर्दे, आँतें, कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ आदि मानव शरीर में सब देखे जाते हैं।

९. मानव शरीर में उर्ध्वमूल अधोशाखा होता है। मस्तिष्क ही मूलवत् है।

१०. मानव शरीर में विकास के साथ-साथ ज्ञान का भी विकास होता जाता है।

११. मानव शरीर में प्राण के साथ मनोयोग भी होता है। सुषुप्ति अवस्था में केवल प्राण काम करता है।

वनस्पति

१. यह केवल भोगयोनि है।

२. इन में रस के अलावा कोई धातु नहीं होती।

३. इनमें मस्तिष्क नहीं होता। रस की शिराएँ मात्र होती हैं।

४. इनमें, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

५. शाखाएँ काटने पर नई आ जाती हैं।

६. यहाँ मन होता ही नहीं।

७. सूक्ष्म शरीर नहीं होता है।

८. पेड-पौधों में फेफड़े आदि अंग कोई भी नहीं होते।

९. पौधों में अधोमूल उर्ध्वशाखा है।

१०. पौधों में आदि से अन्त तक ज्ञान का कोई स्थान नहीं। बिना ज्ञान के दुःख-सुख की अनुभूति कैसे करेंगे?

११. पौधों में जागृत, स्वप्न अवस्था नहीं होती। उनमें सुषुप्ति अवस्था के समान ही दिन-रात प्राण की क्रियाएँ चलती रहती हैं। प्राण की प्रक्रिया से ही पत्ते, फूल, फल आदि निष्पन्न होते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के शब्दों में- जब कोई जीव सुषुप्ति दशा में रहता है, तो दुःख-सुख की प्राप्ति

शेष पृष्ठ २७ पर

कहाँ राजा भोज, कहाँ गंगू तेली

(डॉ. विवेक आर्य, मो.- ९३१०६७९०९०)

"राम राज्य नहीं अशोक राज्य चाहिए।" यह बयान एक केंद्रीय मंत्री ने डॉ० अम्बेडकर जयंती पर एक सार्वजनिक कार्यक्रम में दिया। इस प्रकार के बयान देकर ऐसे राजनेता न केवल राजनैतिक अवसरवादिता का प्रदर्शन कर रहे हैं, अपितु एक सुनियोजित अन्तर्राष्ट्रीय षड्यंत्र का शिकार भी दिख रहे हैं। जब विदेशी लोगों ने भारतीय जनमानस के मन में मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र जी महाराज के प्रति महान श्रद्धा और विश्वास को देखा, तो उन्हें इस बात का अंदाजा आसानी से लग गया था कि अयोध्या के श्री राम के विषय में दुष्प्रचार करे बिना भारतीयों को धार्मिक रूप से विखण्डित नहीं किया जा सकता है। इसके लिए उन्होंने कूटनीति का सहारा लिया। जैसे नास्तिकता को बढ़ावा देने के लिए श्री राम को मिथक घोषित कर दिया।इस पर भी बात नहीं बनी, तो श्री राम को नारी और दलित-विरोधी सिद्ध करने का असफल प्रयास किया गया। सीता की अग्निपरीक्षा, सीता का वनगमन, शम्बूक-वध को उछाला गया, जिससे श्री राम के प्रति करोड़ों लोगों में भ्रामक प्रचार उत्पन्न हो। इस पर भी बात नहीं बनी, तो श्री राम के कद को बौना दिखाने के लिए उसके समकक्ष अशोक के चरित्र को खड़ा किया गया। मगर इतिहास में अनेक ऐसे तथ्य हैं, जिन्हें न मिटाया जा सकता है और न ही भुलाया जा सकता है। इन तथ्यों का विश्लेषण करने पर सत्य पर्वत के समान खड़ा दीखता है।

श्री रामचन्द्र जी महाराज बनाम सम्राट अशोक

रामायण की महान चरित्र गाथा में पितृप्रेम, पति-पत्नी सम्बन्ध भातृप्रेम के ऐसे अनूठे विवरण मिलते हैं, जो हर समाज के लिए एक आदर्श है। राज्याभिषेक होने से ठीक पहले श्री राम को १४ वर्ष का वनवास मिलने पर उनके मुख पर तनिक भी क्षोभ अथवा क्रोध नहीं दीखता, अपितु पित्राज्ञा को तत्क्षण स्वीकार कर राम वन जाने को तैयार हो जाते हैं। महलों का सुख त्याग कर सीता वनवासीवस्त्र ग्रहण कर उनके साथ चलने को तैयार हैं। पति के कष्ट को अपना समझने वाली सीता आदर्श भारतीय नारी का चित्र प्रस्तुत करती है। वीर लक्ष्मण छोटे भाई होने के नाते श्री राम के साथ चलने को इच्छुक है। उनके लिए भाई बिना राजकाज व्यर्थ है। जिन भरत के लिए कैकेयी ने राज्याधिकार माँगा था। वो कैकेयी को लताड़ते हुए राजमहल में न रहकर झोंपड़ी में जा विराजते हैं। भाइयों में ऐसा सम्बन्ध प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय दोनों है।

सम्राट अशोक के पिता बिन्दुसार उन्हें नापसंद करते थे क्यूंकि उनका प्रेम अपने बड़े पुत्र में अधिक था। अशोक ने अपने ९९ भाइयों को मारकर अपना राज स्थापित किया था। कहाँ श्री रामचन्द्र जी का काल जहाँ एक भाई दूसरे भाई के लिए अपने सभी सुख त्यागने को तैयार है। भ्रात्रप्रेम के समक्ष राजसिंहासन का कोई मोल नहीं है। कहाँ अशोक का काल जहाँ सिंहासन के लिए एक भाई दूसरे भाइयों की हत्या करता है। पाठक स्वयं सोचें।

श्री राम के सम्पूर्ण जीवन में हमें एक भी ऐसा प्रसंग नहीं मिलता, जहाँ पर वह न्यायप्रिय एवं दयालु नहीं हैं। प्राणीमात्र के लिए सद्‌भावना से भरा हुआ उनका ह्रदय सभी के लिए मित्र-भावना वाला है। ऐसे जीवंत व्यक्तित्व को इसी कारण से हम मर्यादापुरुषोत्तम कहते हैं। रावण के साथ युद्ध से पहले भी श्री राम उसे सीता लौटाने का प्रस्ताव रखते हैं। मगर दुर्बुद्धि रावण उस प्रस्ताव को ठुकरा देता है। मृतशैया पर पड़े रावण के पास राम लक्ष्मण को भेज कर राजविद्या सीखने का प्रस्ताव रखते हैं। अपने शत्रु के गुणों का आदर करना कोई श्री राम से सीखे।

अशोक के जीवन का एक पक्ष कलिंग युद्ध के नाम से भी जाना जाता है। इस युद्ध में लाखों लोगों का संहार करने के बाद अशोक को विजय प्राप्त हुई थी। इस युद्ध के पश्चात् ही अशोक को विरक्ति हुई एवं उन्होंने बौद्धमत स्वीकार कर लिया था। इससे पहले अशोक ने निर्दयता से तक्षशिला के विद्रोह का दमन भी किया था। श्री राम के दयालु हृदय एवं वात्सल्य स्वभाव से अशोक की तुलना सूर्य से दीपक की तुलना करने के समान है।

रामराज में अयोध्या में राजसत्ता अत्यन्त सुव्यवस्थित थी। राज्य में नशा, व्यभिचार, बलात्कार आदि तो दूर सामान्य चोरी की घटना भी सुनने को नहीं मिलती थी। स्त्रियाँ अग्निहोत्र कर वेद का स्वाध्याय करती थीं। पुरुष व्यापार, कृषि आदि कार्य करते थे। राज्य में कभी अकाल , बाढ़ आदि प्रकोप नहीं आते थे। ऐसे राज्य को आदर्श रामराज्य की संज्ञा इसीलिए दी गई थी। निषादराज केवट और भीलनी शबरी के जूठे बेर खाने वाले श्री राम पर शम्बूक वध का दोष लगा दिया जाता है। सत्य यह है कि रामायण के उत्तर काण्ड में भारी मिलावट कर श्री राम को जातिवादी दिखाने का असफल प्रयास किया गया है। ऐसी ही मिलावट सीता की अग्निपरीक्षा और सीता के वनगमन को लेकर की गई है।

अशोकराज के विषय में यह प्रसिद्ध है कि अशोक सम्राट ने सड़कें बनवाईं, कुएँ खुदवाए, विश्रामशाला बनवाई आदि। मगर एक पक्ष ऐसा भी है, जिससे बहुत कम लोग परिचित हैं। अहिंसा के महात्मा बुद्ध के सन्देश से प्रभावित होकर अशोक अति-अहिंसावादी हो गए थे। राज्य सैनिकों के कवच और अस्त्र छुड़वा कर अशोक ने उन्हें क्षोर करा भिक्षुवस्त्र धारण करवा दिए थे। अशोक के इस कदम के दूरगामी परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। भिक्षु बनने से अशोक राज्य में क्षत्रिय-धर्म का लोप हो गया। सैनिकों को शस्त्रविद्या ग्रहण करने और शस्त्र रखने से रोक दिया गया। राज्य की रक्षाशक्ति समाप्त हो गई। इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि कभी संसार के सबसे शक्तिशाली राज्य मगध को ओडिसा के राजा खारवेला से अशोक के वंशज शालिशुक को हार माननी पड़ी थी। अति अहिंसावाद के कारण हमारा देश शत्रुओं का प्रतिरोध करना भूल गया था। इसके दूरगामी परिणाम सदियों भारतभूमि ने भुगते। सिंध के राजा दाहिर जैसा उदाहरण हमारे सामने है, जब बौद्धमत को मानने वालों ने राजा का साथ बौद्धमत की मान्यता के चलते नहीं दिया था। बहुत कम लोग यह जानते हैं कि अशोक को उसी के राज में राजगद्दी से हटा दिया गया था। कारण था अशोक की सनक। बौद्धमत के प्रचार के चलते अशोक ने अपने राज्य में एक अनुमान के अनुसार ८४००० बुद्ध विहार स्थापित किये थे। इस कार्य में अशोक ने राज्य का सारा कोष समाप्त कर दिया। राज्याधिकारियों द्वारा धन की कमी के चलते राज्य चलाना कठिन हो गया। अंत में उन्होंने अशोक को सजा देते हुए उसे गद्दी से हटाकर अशोक के   अंधे बेटे कुणाल के पुत्र सम्प्रति को राजा बना दिया था। इतिहासकार इस कटु सत्य को छुपाते आये हैं। अशोक राज्य का उत्तरार्ध उतना भव्य नहीं, जितना दर्शाया जाता है।

रामराज और अशोकराज की तुलना करना एक प्रसिद्ध मुहावरे को चरित्रार्थ करता है।

"कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगू तेली"

(नोट- वैसे आज के राजनेता भी अशोक की इसी नीति का अनुसरण करते दीखते हैं। एक ओर देश में शिक्षा, बिजली, पानी आदि मकान, इलाज और भोजन आदि की अत्यन्त कमी है, दूसरी ओर अरबों रुपये व्यय करके हैरिटेज पार्कों में स्वाहा किए जा रहे हैं।)

इस लेख को विस्तार देकर अन्य बहुत सारे बिंदुओं पर चर्चा की जा सकती है। मगर यह शोध का विषय है। पाठकों के मन में इस लेख को लेकर अनेक शंकाएँ होना स्वाभाविक है। इसलिए शंका करने से पूर्व इस विषय से सम्बंधित अध्ययन करना अपेक्षित है।

❑❑

श्रद्धाराम फिल्लौरी रचित आरतीगान की अवैदिकता

(अर्जुनदेव स्नातक,आगरा मो0:-०८६०६३४७३२६)

विश्व के समस्त सनातन मन्दिरों में महात्मा श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा रचित **'ओं जय जगदीश हरे'** के द्वारा मूर्तियों के आगे दीपकादि सहित थाली घुमाकर आरती गान किया जाता है। इसकी सर्वत्र व्याप्ति के कारण आजकल बहुत सी आर्यसमाजों में भी बिना दीपकादि के केवल बैठकर इस आरती का गान सभा के अन्त में करके शान्तिपाठ किया जाता है। प्रश्न है कि क्या आर्यसमाजों में इसका गान करना उचित है? प्रस्तुत लेख में 'आरती' गान के औचित्य/अनौचित्य पर वेदादि आर्षग्रन्थों के सन्दर्भ में विचार करते हैं।

भारत वर्ष में दो विचारधारायें प्रचलित हैंः- सनातन-धर्म एवं वैदिकधर्म। सनातनधर्म की मान्यताओं का मुख्य आधार पुराणादि ग्रन्थ हैं, अतः इन्हें हम पौराणिक भी कह सकते हैं। दूसरों की मान्यता का आधार वेद एवं वेदानुकूल ब्राह्मण, उपनिषद्, वेदांग, दर्शनशास्त्र, मनुस्मृति आदि ग्रन्थ हैं। इनकी प्रामाणिकता का मुख्य आधार वेद है।

सनातनधर्म के मानने वाले पुराणों के अनुसार मूर्त्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थभ्रमण के साथ नदी विशेष में स्नान करने से, नाम-स्मरण से, भागवतादि पुराणों की कथा श्रवण मात्र से, संकीर्त्तन मात्र से पापों से मुक्ति तथा मोक्ष प्राप्ति, अनेक देवी-देवताओं को ईश्वर की मान्यता, मृतक श्राद्ध आदि अन्य अनेक अन्धविश्वास-जन्य मान्यताओं को उचित मानते हैं। **इनकी मान्यताओं में बुद्धियुक्त तर्क करना सर्वथा निषिद्ध है।** जो करेगा, उसे आस्थाओं पर प्रहार करने वाला माना जाता है।

दूसरा पक्ष वैदिकधर्म के माननेवालों का है। इनमें वेदादि ग्रन्थों के अनुसार बुद्धिपूर्वक सृष्टि नियम के अनुकूल सभी मान्यताएँ हैं। मुख्य रूप से कर्मफल सिद्धान्त की मान्यता में कृतकर्मों का फल इस जन्म या अगले जन्मों में अवश्य प्राप्त होगा। पूजा पाठादि से इनकी निवृत्ति नहीं होती है- हाँ आगे पाप नहीं करेंगे, यह आत्मिक शक्ति अवश्य प्राप्त होती है।

अब 'आरती' के औचित्य/अनौचित्य पर विचार करते हैं। क्या सम्पूर्ण आरतीगान वैदिक मर्यादा के विपरीत है? निस्सन्देह नहीं। फिर भी कुछ पंक्तियाँ वेद के अनुकूल नहीं हैं। 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में न पठनीय ग्रन्थों के विषय में प्रश्न किया है-

'क्या इन ग्रन्थों में कुछ भी सत्य नहीं?

उत्तर दिया- थोड़ा सत्य तो है परन्तु इसके साथ बहुत सा असत्य भी है। इससे **'विषसम्पृक्तान्नवत् त्याज्याः।** जैसे अत्युत्तम अन्न विष से युक्त होने से छोड़ने योग्य होता है, वैसे ये ग्रन्थ हैं। (सत्याथ प्रकाश तृतीय समुल्लास)

इस आधार पर आरतीगान पर विचार करें तो उसमें भी असत्य मिश्रित सत्य है- अतः अवैदिक है। क्या अवैदिक है, इस पर विचार करना आवश्यक है। आरतीगान में प्रार्थना की मुख्यता है। प्रार्थना का अर्थ स्वामी दयानन्द के अनुसार- पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त सामर्थ्यशाली से याचना करना प्रार्थना कहलाती है।

आरतीगान की प्रथम दो पंक्तियाँ अवैदिक हैं। प्रथम पंक्ति में 'जगदीश हरे' हरि शब्द ईश्वर अर्थ में वेद में कहीं भी वर्णित नहीं है। स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के एक सौ आठ नामों की व्याख्या की है। गणपति, देवी, श्री, शिव, लक्ष्मी, रुद्र, शनैश्चर, गणेश, शक्ति, सरस्वती, यम, महादेव, राहु, केतु आदि नाम ईश्वर के हैं। इनमें हरि शब्द नहीं है। प्रथम समुल्लास के अन्त में स्वामी जी लिखते हैं- **"और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में 'हरिओ३म्' लिखते**

हैं और पढ़ते हैं, यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखें हैं।'' इस प्रमाण से 'जगदीश हरे' में 'हरि' शब्द का प्रयोग ईश्वर अर्थ में अवैदिक है।

प्रथम पंक्ति के अनन्तर-

'भक्तजनों के संकट क्षण में दूर करे' है।

इस पंक्ति में अन्धविश्वासजन्य भाव से अकर्मण्य बनकर मात्र आरती करना, मूर्ति के समक्ष प्रातः-सायं हाथ जोड़ना, तीर्थयात्रा करना आदि कार्य को ही भक्ति मानकर संकटों, कष्टों से बचने की भावना भर गई, फलतः वीरतापूर्वक सोमनाथ आदि मन्दिरों की रक्षा करने में असमर्थ रहे। केदारनाथ, अमरनाथ, वैष्णवदेवी आदि स्थानों पर अनेक भक्त गये थे, क्या उनके क्षण भर में कष्ट या संकट दूर हो गये, केदारनाथ में हजारों व्यक्ति पानी की धार में बह गये। वेंकटेश्वर मन्दिर में मूर्ति के सुवर्णाभूषण चोरी हो गये। सिपाहियों ने चोर को पकड़ा। वह लगभग १५-२० वर्षो से मन्दिर का पुजारी परम भक्त था। उसने वहाँ के अधिकारियों से दयनीय स्थिति वर्णन कर किसी विशेष आकस्मिक कार्य के लिए धन की याचना की, उसकी किसी ने नहीं सुनी, तथाकथित बड़े-बड़े भगवद्भक्तों ने उसके संकट को दूर नहीं किया- परिणाम भक्त को चोरी करनी पड़ी। निश्चय से उक्त पंक्ति मात्र अंधविश्वास को बढ़ावा देती है। अग्रिम पंक्ति भी इसी उक्त भावना को पुष्ट करती है-

जो ध्यावे फल पावे, दुःख विनशे मन का,
सुख-संपत्ति घर आवे, कष्ट मिटे तन का।

जो ध्यान करे, आरतीगान मात्र करे, उसको फल प्राप्त होता है, शारीरिक कष्ट दूर होता है। मन्दिर में जाने वाले अनेक भक्त शारीरिक कष्ट पाते हैं, धनादि व्यय करके चिकित्सा कराते हैं, मन के कष्ट कहाँ दूर होते हैं- ध्यान करने मात्र से नहीं, सदाचरण, सत्कर्म, सद्व्यवहार मन में प्रसन्नता लाता है। सुख सम्पत्ति, ध्यान से नहीं कर्म से प्राप्त होती है। गीता में स्पष्ट लिखा है-

'कर्मणैव संसिद्धिमा स्थिताः जनकादयः।

वेद का तो स्पष्ट आदेश है :-

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

आयुपर्यन्त कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए- यह आदेश वेदादि ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

आरतीगान में एक पंक्ति और पूर्णतः अवैदिक है-

मैं मूरख खल कामी कृपा करो भर्त्ता

उक्त पंक्ति का स्पष्ट भाव यही है कि मैं चाहे मूरख (मूर्ख, अज्ञानी) रहूँ, आप तो मेरे ऊपर कृपा करके मेरा कल्याण करो, मेरा उद्धार करो, चाहे मैं खल-दुष्ट हूँ, दुष्टता करता रहूँ, तो भी आप उस पर ध्यान न देकर मेरा उद्धार करें। यदि मैं कामी (विलासी) हूँ, तो भी आप मेरे ऊपर कृपादृष्टि बनाये रखें। यह भावना सूरदास के निम्न पद से तथाकथित भक्तों में प्राप्त होती है-

प्रभु जी मेरे अवगुण चित्त न धरो,
समदरसी है नाम तिहारो, चाहो तो पार करो।

उक्त पद में भगवान् को समदरसी- अर्थात् सज्जन-दुष्ट, महात्मा-दुष्टात्मा, त्यागी-भोगी, कर्मण्य-अकर्मण्य, पुण्यात्मा-पापात्मा आदि सद्गुणी-अवगुणी को समान समझकर भगवान् दोनों पर समानता का भाव रखकर कल्याण करे। यहाँ यह भूल गये कि भगवान् का एक नाम 'रुद्र' भी है- जो दुष्टों को, अन्याय करने वालों को रुलाता है, फिर विचार करें- 'समदरसी' कहना या समझना कहाँ तक उचित है?

चारों वेदों एवं आर्षग्रन्थों में ऐसे विचार नहीं प्राप्त होते हैं, इस अर्थ में आरतीगान में निहित ये पंक्तियाँ पूर्णतः अवैदिक हैं।

वेदादि ग्रन्थों में-

दुरितानि परासुव (यजु० ३०/३) बुराइयों को दूर करने की प्रार्थना है।

युयोध्यस्मज्जुहुराणम् (यजु० ४०/१६) हमारे कुटिलता- युक्त मार्ग को दूर कीजिये।

व्यहं सर्वेण पाप्मना (अथर्व० ३/३६/१) में सब

पापों से दूर रहूँ।

अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् (यजु0 ४/)५

हे तेजस्वी परमात्मन्! दुराचार और पाप से हमारी रक्षा करें।

एनो मा निगाम् (अथर्व० ५/३/५) मैं पाप को प्राप्त न होऊँ। यजुर्वेद अ० २० मन्त्र १४, १५, १६ के अन्त में-

'मुञ्चत्वंहसः=पापों या विघ्नों से हमें छुड़ाओ।

परोऽपेहि मनस्याय अथर्व० ६-४५-१, हे मानसिक पाप! दूर हो।

आरेस्याम दुरितस्य भूरेः- ऋग्० ३-३६-८ बहुत प्रकार के दुर्व्यसन दूर हों।

इस प्रकार मैं मूरख खलकामी कृपा करो भर्ता- इस पंक्ति से मूर्ख, दुष्ट, कामी बना रहूँ, तो भी आप कृपा कर मेरा कल्याण करें, इन विचारों से दुष्टता न छोड़ने का भाव प्राप्त होता है- अर्थात् आचरण में पवित्रता की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा की कृपा प्राप्त होगी। इससे समाज को क्या सन्देश प्राप्त होगा- पाठक समझ रहे होंगे।

अन्त में वेदान्त दर्शन के सूत्रों के अनुसार इस 'आरतीगान' की अवैदिकता सिद्ध होती है। वेदान्त दर्शन का सूत्र है- **'न प्रतीके न हि सः'**

(वेदान्त दर्शन ४-९-४)

अर्थात् प्रतीक- मूर्ति में ब्रह्म (ईश्वर) का अनुष्ठान या अनुसन्धान करना उचित नहीं है क्योंकि वह ब्रह्मरूप नहीं है। आगे सूत्र है- **ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्**- वेदान्त ४-१-५ अर्थात् ब्रह्म का उत्कर्षात्= श्रेष्ठत्व अर्थात् परिभूः स्वयंभूः- (यजु0 ४-८) आदि श्रुति प्रतिपादित वचनों से सिद्ध ब्रह्मदृष्टिः = ब्रह्म का ध्यान कर्त्तव्य है- प्रतीक (मूर्त्ति) का नहीं।

आगे वेदान्त दर्शन के सूत्र हैं-

आसीनः सम्भवात्। ध्यानाच्च।

(वेदान्त दर्शन ४-१-७,८)

इन सूत्रों के भाष्य में शंकराचार्य जी लिखते हैं:-

उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं, न च तद् गच्छतो, धावतो वा सम्भवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपक-रत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्म वस्तु निरीक्षण क्षमं भवति।

अर्थात् समान ज्ञान का प्रवाह करना उपासना कही जाती है। चलने पर, दौड़ने पर उपासना सम्भव नहीं है। गति आदि से चित्त में विक्षेप होने से। खड़े होकर भी उपासना सम्भव नहीं है, देह धारण में लगा मन सूक्ष्म वस्तु का निरीक्षण नहीं कर सकता। अतः बैठकर ही उपासना सम्भव है। इस प्रकार खड़े होकर दीपक सहित थाली घुमाकर ब्रह्म का ध्यान सम्भव नहीं है। इस प्रकार यह आरती-गान अवैदिक है। ❑❑

पृष्ठ २२ का शेष

नहीं होती। जब नशे की कोई वस्तु खिलाकर शरीर की चीड़-फाड़ की जाती है, तब भी पीड़ा का भान नहीं होता और अत्यन्त मूर्च्छित अवस्था में भी प्राणी को दुःख-सुख की प्राप्ति नहीं होती। वृक्षों में जीवात्मा महासुषुप्ति अवस्था में रहता है। उपरोक्त हेतुओं पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि पेड़-पौधों के फल -फूल आदि का सेवन करना कोई अपराध का कार्य नहीं है। माँसाहारी लोगों का यह कुतर्क ही है कि जो फल/सब्जी आदि के सेवन को माँसाहार बतलाकर उस में जीवहिंसा का दोष दिखाते हैं। फल, सब्जी का सेवन आङ्ग्ल भाषा में Vegetarian कहलाता है। माँसाहार के लिये कोई शुद्ध शब्द वहाँ नहीं मिलता, तो उसे Non-Vegetarian कहते हैं। इसमें उनकी भाषा की तुच्छता ही प्रकट होती है। कुछ अज्ञानी व्यक्ति दुग्धाहार को भी माँसाहार के समान ही बतलाते हैं, जबकि वेद में दुग्धसेवन को अमृतपान की उपमा दी गई है। **'गवाक्षीरं अमृतमस्तुते'**- इति। इससे ज्ञापित होता है कि दूध, फल, सब्जी आदि का शाकाहार पूर्णतया निष्पाप है। इसमें सन्देह को कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए, यह वेद प्रतिपादित आहार है।

❑❑

आर./आर. नं० १६३३०/६७ Post in Delhi R.M.S ०५-११/०५/२०१६ भार- ४० ग्राम	**मई 2016**	रजिस्टर्ड नं० DL (DG -11)/8029/2015-17 लाईसेन्स नं० यू (डी०एन०) १४४/२०१५-१७ Licenced to post without prepayment Licence No. U (DN) 144/2015-17

पाठकों से निवेदन

१. अपने पत्रों में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य ही लिखा करें, अन्यथा कार्यवाही सम्भव नहीं होगी।

२. १५ तारीख तक प्रतीक्षा करके ही दुबारा अंक मँगाएं, यदि अंक न पहुँचा हो।

३. यदि आप अपना पता बदलवायें तो यह ध्यान रखें कि बदले हुए पते पर अंक-प्रेषण एक माह बाद आरम्भ होगा।

४. अंक के रेपर पर अपना पता चैक कर लिया करें। यदि कोई त्रुटि हो, तो सूचना दे दिया करें।

५. जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त है, अविलम्ब भेजने की कृपा करें।

दिनेश कुमार शास्त्री
कार्यालय व्यवस्थापक
मो०-९६५०५२२७७८

ओ३म्

भारत में फैले सम्प्रदायों की निष्पक्ष व तार्किक समीक्षा के लिए उत्तम कागज़, मनमोहक जिल्द, सुन्दर आकर्षक छपाई एवं (द्वितीय संस्करण से मिलान कर शुद्ध प्रामाणिक संस्करण)

सत्य के प्रचारार्थ

सत्यार्थ प्रकाश

सत्य के प्रचारार्थ

● **प्रचार संस्करण** (अजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 50 रु.	प्रचारार्थ 30 रु.	प्रचारार्थ मूल्य पर कोई कमीशन नहीं
● **विशेष संस्करण** (सजिल्द) 23×36÷16	मुद्रित मूल्य 80 रु.	प्रचारार्थ 50 रु.	
● **स्थूलाक्षर सजिल्द** 20×30÷8	मुद्रित मूल्य 150 रु.		प्रत्येक प्रति पर 20% कमीशन

10 या 10 से अधिक प्रतियाँ लेने पर विशेष अतिरिक्त कमीशन

कृपया, एक बार सेवा का अवसर अवश्य दें और महर्षि दयानन्द की अनुपम कृति सत्यार्थ प्रकाश के प्रचार प्रसार में सहभागी बनें

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
427, मन्दिर वाली गली, खारी बावली, दिल्ली-6
Ph. :011-43781191, 09650622778
E-mail : aspt.india@gmail.com

छपी पुस्तक/पत्रिका

श्री सेवा में.....................

ग्राम.....................

डा0.....................

जिला.....................

मुद्रक, प्रकाशक व सम्पादक धर्मपाल आर्य, स्वामित्व आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, ४२७, गली मन्दिर वाली, नया बांस, खारी बावली, दिल्ली-११०००६ से प्रकाशित एवं तिलक प्रिंटिंग प्रेस, २०४६, बाजार सीता राम, दिल्ली-११०००६ से मुद्रित।